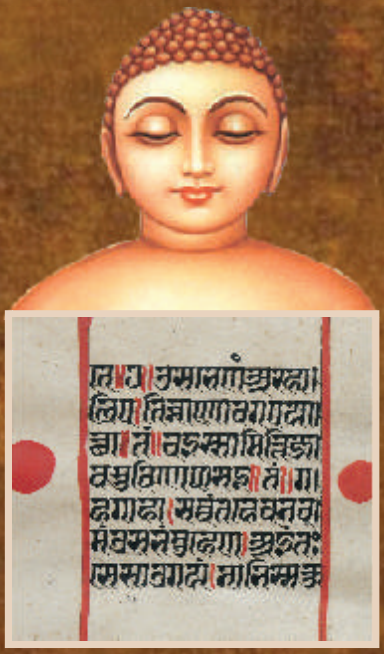

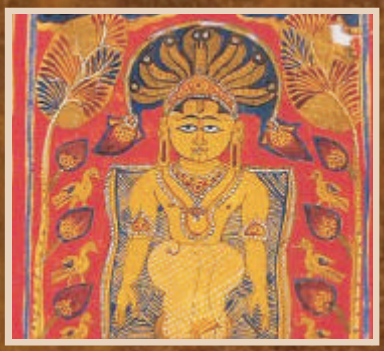

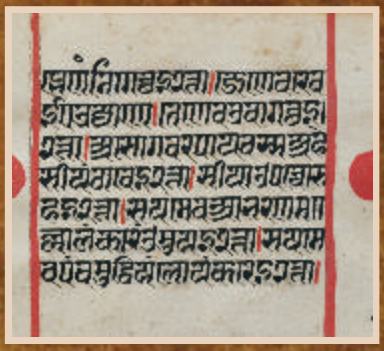

क्या कहता है जैन वाङ्मय

सफल जीवन के
मार्गदर्शक सूत्रों की व्याख्या

आचार्य महाश्रमण

क्या कहता है जैन वाङ्मय

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : **साध्वी सुमतिप्रभा**

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

ISBN : 978-81-7195-129-1

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

तृतीय संस्करण : फरवरी २०११
चतुर्थ संस्करण : नवम्बर २०११
पंचम संस्करण : जनवरी २०१२
षष्टम संस्करण : अप्रेल २०१३

मूल्य : ७०/- (सत्तर रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

प्रस्तुति

मुझे लिखने का समय इन वर्षों में कम मिल रहा है। वक्तव्य देना मेरा प्रायः रोज का कार्य है। पिछले कुछ वर्षों में मैं प्रायः अपने वक्तव्य का प्रारम्भ जैन वाङ्मय के किसी सूक्त के साथ करता हूं। ऐसा करना मुझे अच्छा भी लगता है।

साध्वी सुमतिप्रभा ने मेरे वक्तव्यों को संपादित किया है, उसमें कार्यनिष्ठा है, वह प्रवर्धमान रहे।

पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री महाप्रज्ञ की मंगलमयी छाया में हम सब मंगल विकास करते रहें। मंगलकामना।

आचार्य महाश्रमण

अनुक्रम

१. भाग्य का निर्माता : पुरुषार्थ	१
२. शक्ति का नियोजन	६
३. मनुष्य जीवन : सर्वोत्तम उपहार	९
४. जीवन का यथार्थ	११
५. नश्वर शरीर का आध्यात्मिक लाभ	१३
६. कल नहीं आज	१६
७. जीवन का आनंद	१८
८. श्रावकत्व का मूल्यांकन	२१
९. निष्काम कर्म और सकाम निर्जरा	२३
१०. समय का मूल्यांकन	२५
११. समय की सार्थकता	२८
१२. तमसो मा ज्योतिर्गमय	३०
१३. श्रेय	३४
१४. मित्र कौन?	३६
१५. वीर कौन?	३८
१६. अभयदान	४०
१७. प्रसन्नता	४२
१८. व्यवहार का संचालक : भाव जगत	४५
१९. वैचारिक और व्यावहारिक गांभीर्य	४७
२०. अनुशासन का पहरा	५०
२१. इंद्रिय-संयम	५३
२२. अध्यात्म विकास के सूत्र	५६

२३. आत्मानुशासन ५९
२४. प्रशस्त जीवनशैली के आयाम ६३
२५. स्वस्थ जीवनशैली : ईमानदारी ६७
२६. जीवन का विभूषण : विनय ७०
२७. भीतर की आंख ७४
२८. ज्ञान और आचार ७७
२९. आत्मविजेता ८१
३०. प्रमाद मत करो ८४
३१. स्वयं को उपयोगी बनाओ ८७
३२. छोटे से भी सावधान रहो ९१
३३. ज्ञान बड़ा या आचार ९५
३४. धर्मार्जित व्यवहार ९९
३५. सेवाभाव १०४
३६. उत्कृष्ट मंगल १०७
३७. विष क्या? अमृत क्या? ११०

१

भाग्य का निर्माता : पुरुषार्थ

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—'**अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य**' आत्मा ही सुख-दुःख की कर्ता और विकर्ता है। जब आत्मा ही कर्ता और विकर्ता है तो प्रश्न हो सकता है कि भाग्य क्या है? वास्तव में देखा जाए तो भाग्य और पुरुषार्थ दोनों में गहरा संबंध है। अतीत का पुरुषार्थ ही वर्तमान व भविष्य का भाग्य बन जाता है अर्थात् पुरुषार्थ से ही भाग्य का निर्माण होता है। जैन दर्शन में जो भाग्यवाद है उसे कर्मवाद के रूप में भी देखा जा सकता है। कर्म और भाग्य एक ही है। जैसा कर्म होता है, वैसा ही भाग्य बन जाता है। दो प्रकार का भाग्य होता है—सौभाग्य और दुर्भाग्य। मैं जैनदर्शन के कर्मवाद या भाग्यवाद को कुछ निम्न शैली में प्रस्तुत कर रहा हूं। मेरे चिंतन से भाग्य को चार भागों में बांटा जा सकता है—

- ज्ञानात्मक भाग्य
- स्वास्थ्यात्मक भाग्य
- प्रतिष्ठात्मक भाग्य
- भावात्मक भाग्य

ज्ञानात्मक भाग्य

एक आदमी मंदबुद्धि वाला होता है, अल्प समझ शक्ति और अल्प-स्मरण शक्ति वाला होता है, मानसिक अस्थिरता वाला होता है, बौद्धिक क्षमता भी कम होती है जबकि दूसरा आदमी धीमान होता है, अच्छी समझ शक्ति और अच्छी स्मरण शक्ति वाला होता है। बौद्धिक क्षमता से संपन्न होता है। एक व्यक्ति की स्मरण शक्ति इतनी तीव्र होती है कि वह एक दिन में सौ श्लोक कंठस्थ कर लेता है जबकि एक व्यक्ति काफी प्रयास के बाद दिनभर में

एक-दो श्लोक भी कंठस्थ नहीं कर पाता। यह है विद्या संबंधी भाग्य।

जो व्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करता है, ज्ञानी अथवा विद्वान की आशातना करता है, तिरस्कार करता है, ज्ञानी व्यक्ति के ज्ञान की अवहेलना करता है, वह व्यक्ति ज्ञान संबंधी दुर्भाग्य का निर्माण कर लेता है। जो व्यक्ति दूसरों को अध्ययन में सहयोग देता है, ज्ञान देता है, ज्ञानियों का सम्मान करता है, वह व्यक्ति ज्ञान संबंधी सौभाग्य का निर्माण कर सकता है।

स्वास्थ्यात्मक भाग्य

एक आदमी स्वस्थ रहता है, बीमारी को अनुभव के स्तर पर जानता ही नहीं है, शरीर मजबूत होता है, शक्ति-संपन्न होता है, अधिक श्रम करने पर भी विशेष थकान महसूस नहीं होती, जबकि दूसरा आदमी प्रायः बीमार रहता है। कभी बुखार, कभी जुकाम, कभी सिरदर्द, कभी पेटदर्द, कभी हार्ट अटैक, कभी कुछ न कुछ चलता ही रहता है। शरीर से कमजोर होता है, ज्यादा श्रम नहीं कर पाता। यह है स्वास्थ्य संबंधी भाग्य।

जो व्यक्ति दूसरों को कष्ट देता है, उनका बुरा करता है, मारता है, पीटता है, रुलाता है, दुःख देता है, उसके स्वास्थ्य संबंधी दुर्भाग्य का बंध हो सकता है। फिर उसके अस्वास्थ्य संबंधी स्थितियां अथवा शरीर में रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जो व्यक्ति किसी को दुःख नहीं देता, किसी का अहित नहीं करता, स्वयं कष्ट झेलकर भी दूसरों का हित करता है, अहिंसा और मैत्री का जीवन जीता है, उससे स्वास्थ्य संबंधी सौभाग्य का निर्माण हो सकता है। स्वास्थ्य की अनुकूलता स्वास्थ्य संबंधी सौभाग्य है और स्वास्थ्य की प्रतिकूलता स्वास्थ्य संबंधी दुर्भाग्य है।

प्रतिष्ठात्मक भाग्य

एक आदमी को सम्मान मिलता है, प्रतिष्ठा मिलती है, इज्जत मिलती है, उसके द्वारा कथित बात को लोग आदर के साथ स्वीकार करते हैं, ऊंचा पद मिल जाता है, जबकि दूसरे व्यक्ति का असम्मान होता है, उसे कोई अधिकारपूर्ण स्थान नहीं मिलता, सदा दूसरों के अनुशासन में ही रहना पड़ता है, उसके द्वारा कही गई बात का तिरस्कार किया जाता है। वह लोगों का प्रिय नहीं बन सकता। यह है प्रतिष्ठा संबंधी भाग्य।

जो व्यक्ति अहंकार करता है, दूसरों की निंदा करता है, उद्दंडतापूर्ण व्यवहार करता है, दूसरों को बदनाम करने का और स्वयं को बड़ा दिखाने का प्रयास करता है, वह व्यक्ति प्रतिष्ठा संबंधी दुर्भाग्य का निर्माण कर लेता है। जो

व्यक्ति विनम्र होता है, उपशांत-कषाय होता है, दूसरों को सम्मान देता है, सबका आदर करता है, वह व्यक्ति अपने सौभाग्य का निर्माण कर सकता है। नम्रता और शांति से पुण्य कर्म का बंध होता है जिससे प्रतिष्ठा संबंधी सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

भावात्मक भाग्य

एक व्यक्ति प्रायः शांत रहता है, ज्यादा गुस्सा नहीं करता, निरहंकारी और विनम्र होता है, काम-वासना पर भी अंकुश रखता है, माया नहीं करता, सरलता और सहजता का जीवन जीता है, संतोष का जीवन जीता है जबकि दूसरा व्यक्ति बहुत क्रोधी होता है, छोटी-सी बात पर भी आवेश में आ जाता है, अपशब्द बोलना शुरू कर देता है। वह स्वयं भी अशांत रहता है और उसके निमित्त से दूसरे लोग भी अशांत हो जाते हैं, वासना-ग्रस्त हो जाता है, विशेष शक्तिमत्ता नहीं होने पर भी अहंकार करता है। यह है भावना संबंधी भाग्य।

जो व्यक्ति क्रोध-विजय, अहंकार-विजय, माया-विजय, लोभ-विजय और काम-विजय की साधना करता है अथवा इनको कम करने का प्रयास करता है, शांत स्वभाव वाला होता है, उसके भावात्मक सौभाग्य का निर्माण हो सकता है। जो व्यक्ति बार-बार क्रोध करता है, साधना रहित जीवन जीता है, भावशुद्धि का ध्यान नहीं रखता, अपवित्र विचारों वाला होता है, कषाय बहुल जीवन जीता है, वह भावात्मक दुर्भाग्य का निर्माण कर लेता है।

आदमी स्वयं ही अपने सौभाग्य और दुर्भाग्य का निर्माण करने वाला है। सौभाग्य को पुण्य कहा जा सकता है और दुर्भाग्य को पाप कहा जा सकता है। पुण्य और पाप का बंध आदमी स्वयं ही करता है। जैनदर्शन ईश्वर-कर्तृत्व में विश्वास नहीं करता। ईश्वर को वह बिलकुल तटस्थ मानता है। वह व्यक्ति के सुख-दुःख में या सृष्टि के निर्माण-विनाश में कोई हस्तक्षेप नहीं करता।

आत्मा जो प्रवृत्ति करता है उसके साथ कर्म का बंध होता है और उस कर्म बंध से ही भाग्य का निर्माण होता है। जैन-कर्मवाद यह मानता है कि भाग्य को बदला भी जा सकता है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो कर्म बंध गए, उन सारे कर्मों को भोगना ही पड़ेगा। हां, ऐसे कुछ कर्म हो सकते हैं जिन्हें भोगना ही पड़ेगा। किन्तु ऐसे कर्म भी हो सकते हैं जिन्हें साधना, तपस्या और भावात्मक शुद्धि के द्वारा बदला भी जा सकता है।

दो भाई थे। दोनों में परस्पर प्रेम था। एक दिन दोनों ने एक ज्योतिषी को

बुलाया और अपने भविष्य के बारे में जानना चाहा। ज्योतिषी ने अपने ज्ञान के आधार पर दोनों के बारे में बताया कि बड़े भाई का भाग्य तेज है, भविष्य उज्ज्वल है। छोटे भाई का भाग्य कमजोर है, मंद है, कोई विशेष सफलता हासिल नहीं कर पाएगा।

बड़े भाई ने सोचा कि मेरा भाग्य तो तेज है। मुझे तो सफलता अपने आप मिल जाएगी, यह सोचकर आचरण को खराब कर लिया। शराब पीना, धूम्रपान करना, वेश्या गमन करना, गुस्सा करना आदि अनेक अवगुण उसके जीवन में आ गए। ये अवगुण आदमी के भाग्य को खत्म कर देते हैं। छोटे भाई ने सोचा कि मेरा भाग्य कमजोर है इसलिए मुझे संयम रखना चाहिए। वह नशा-मुक्त, गुस्सा-मुक्त और उपशांत कषाय का जीवन जीने लगा। जितना संभव होता, दूसरों का कल्याण करता। किसी का बुरा नहीं करता।

कुछ वर्षों बाद अकस्मात वहां के राजा का स्वर्गवास हो गया। राजा के कोई संतान नहीं थी। इसलिए राज्य के प्रमुख व्यक्तियों ने यह निर्णय किया कि हथिनी जिसके गले में माला पहना देगी, उसी को राजा घोषित कर दिया जाएगा। निश्चित समय पर एक बड़े मैदान में लोग पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। दोनों भाई भी उस पंक्ति में खड़े थे। हथिनी अपनी गति से चल रही थी। ज्योंही बड़े भाई के पास पहुंची, गला आगे तो किया किन्तु माला नहीं मिली। थोड़ी दूर पर छोटा भाई सहज मुद्रा में खड़ा था। हथिनी आगे बढ़ी और छोटे भाई के गले में माला डाल दी। लोगों ने उसे राजा के रूप में स्वीकार कर लिया। कुछ दिनों बाद उस ज्योतिषी को बुलाया गया। ज्योतिषी हाजिर हुआ। दोनों भाइयों ने कहा—आपने गलत बात क्यों बताई? आपकी बात में इतना अंतर कैसे आ गया? ज्योतिषी ने कहा—मैंने कोई गलत बात नहीं बताई। यह अंतर तो आपके कर्मों से, आचरणों से आया है। बड़े भाई के जीवन में पुण्य का योग था, सौभाग्य का योग था किन्तु स्वयं के दुराचार ने ही पुण्य को, सौभाग्य को खत्म कर दिया। छोटे भाई का भाग्य कमजोर था किन्तु अच्छे पुरुषार्थ ने, शुद्ध आचरण ने दुर्भाग्य को खत्म कर दिया। इसलिए परिणाम में परिवर्तन आ गया।

आदमी सत्पुरुषार्थ करे। गलत आचरणों से बचे। अच्छे पुरुषार्थ से भाग्य अच्छा बन सकता है। कोई व्यक्ति केवल भाग्य को माने और पुरुषार्थ को कुछ भी न माने तो मेरी दृष्टि में कुछ कमी है। यदि कोई व्यक्ति केवल पुरुषार्थ को ही सब कुछ माने और भाग्य/नियति को कुछ भी न माने तो भी ऐकान्तिक चिंतन हो जाता है। एक श्लोक में सुन्दर कहा गया—

नालम्बते दैष्टिकतां, न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव, द्वयं विद्वानपेक्षते।।

आदमी को केवल भाग्यवादी भी नहीं होना चाहिए और केवल पुरुषार्थवादी भी नहीं होना चाहिए। दोनों को स्वीकार करना चाहिए। भाग्य का अपना मूल्य है और पुरुषार्थ का अपना मूल्य है। एक उदाहरण से इस बात को समझाया गया है कि अच्छा कवि वह होता है जिसकी कविता में शब्द संयोजना भी सुन्दर हो और भाव भी अच्छे हों। जिस कविता में शब्दों की संयोजना तो सुन्दर है लेकिन भाव ठीक नहीं है तो वह कविता निष्प्राण होती है। आत्मा रहित सुन्दर शरीर का अधिक महत्त्व नहीं होता। भाव सुन्दर है किन्तु शब्दों की रचना ठीक नहीं है तब भी कविता में सौंदर्य नहीं आता। इसी प्रकार आदमी को भाग्य और पुरुषार्थ दोनों को मानना चाहिए।

आदमी अच्छा पुरुषार्थ करे, अच्छा आचरण करे, भावशुद्धि का विकास करे जिससे सौभाग्य का निर्माण हो सके और आत्मा शुद्ध बन सके।

२

शक्ति का नियोजन

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**णो णिहेज्ज वीरियं।** आदमी अपनी शक्ति का गोपन न करे। दरवाजे पर खड़े भिखारी से कहा—'तुम मेहनत क्यों नहीं करते? इस तरह मांगकर खाते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती? भिखारी ने तपाक से उत्तर दिया—मेरी तरह दिन-भर चलकर देखो तब मालूम पड़ेगा कि मैं कितनी मेहनत करता हूं।' भिखारी जितना श्रम भीख मांगने में करता है उतना श्रम यदि वह किसी उपयोगी कार्य को करने में करे तो वह पारिश्रमिक पा सकता है और समाज का सामान्य व्यक्ति भी बन सकता है। श्रम करना एक बात है और श्रम का सार्थक होना अलग बात है। हमारा परिश्रम सही दिशा में हो, सफल हो, इसके लिए जरूरी है कि किसी भी कार्य को करने से पहले हमारे मन में दो प्रश्न उठने चाहिए—क्यों और कैसे? अमुक कार्य मुझे क्यों करना चाहिए और कैसे करना चाहिए? यदि क्यों और कैसे का चिंतन किए बिना कोई कार्य किया जाता है तो उसका दुष्परिणाम भी आ सकता है।

बहुत बार आदमी यह सोच लेता है कि 'भाग्य में जैसा लिखा है वैसा ही होना है' फिर 'क्यों' और 'कैसे' के बारे में क्यों विचार किया जाए? क्यों श्रम किया जाए? ऐसी सोच वाला आदमी आलस्य और प्रमाद में अपने जीवन के बहुमूल्य समय को गंवा देता है और दुर्भाग्य का निर्माण कर लेता है। इस सचाई को विचारक कार्लाइल के शब्दों में भी देखा जा सकता है—'हमारे भाग्य के ताने-बाने को सदा कौन देख सकता है? क्षण-भर के लिए उपयोगी व

लाभदायक अवसर आता है, उसे हम खो देते हैं और महीनों व वर्षों का नाश हो जाता है।' जो आदमी सतत प्रयत्नशील रहता है, जागरूकता के साथ परिश्रम करता है वह अपने सौभाग्य का निर्माण कर सकता है। यदि गहराई से चिंतन किया जाए तो भाग्य का जनक व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ ही होता है। अतीत का पुरुषार्थ ही वर्तमान का भाग्य बनता है। व्यक्ति अपने सत्पुरुषार्थ से अच्छा भाग्य बना सकता है और गलत पुरुषार्थ से खराब भाग्य बना सकता है। अच्छे और खराब भाग्य का जिम्मेवार आदमी स्वयं होता है, कोई दूसरा नहीं। समझदार व्यक्ति न केवल भाग्य के भरोसे बैठता है और न केवल पुरुषार्थ को ही महत्त्व देता है। वह भाग्य और पुरुषार्थ दोनों को मानता है।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो पुरुषार्थ की भी अपनी सीमा होती है। कोई व्यक्ति यह सोचे कि मैं जीव को अजीव बना दूंगा या अजीव को जीव बना दूंगा तो उसका वह पुरुषार्थ सफल नहीं हो सकता। कोई यह सोचे कि मैं अपने पुरुषार्थ से अभव्य जीव को भव्य बना दूंगा अथवा भव्य को अभव्य बना दूंगा तो उसका पुरुषार्थ भी सफल नहीं हो सकता, क्योंकि अतीत में ऐसा कभी हुआ नहीं और भविष्य में ऐसा कभी होगा नहीं। इन शाश्वत सत्यों को कभी बदला नहीं जा सकता। परन्तु जीवन की सफलता के लिए पुरुषार्थ का भी बहुत महत्त्व है। यूरोप का एक बालक जो कि बिलकुल साधनविहीन था, उसने आरंभ में एक लुहार के यहां प्रशिक्षण लेना शुरू किया। वह दिन-भर भट्टी के सामने काम करता। रात को भी वह मोमबत्ती की रोशनी में काम किया करता था। वह सोने से पहले थोड़ा समय कुछ पढ़ने के लिए अवश्य लगाता था। उसने कठोर परिश्रम करके उस समय से इतना लाभ उठाया कि तीस वर्ष की आयु तक पूरे यूरोप की लगभग सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं का विद्वान बन गया। उस नवयुवक का नाम था—इयिहब्रेट। इयिहब्रेट ने अपनी शक्ति का सही उपयोग किया। श्रम का सम्यक् नियोजन किया और अनेक भाषाओं का ज्ञाता बन गया। पुरुषार्थ के लिए अपेक्षा है कि व्यक्ति पहले अपनी शक्ति का निर्माण करे और फिर उसका सही दिशा में प्रयोग करे। वीर्य के दो प्रकार हैं—(१) लब्धि वीर्य, (२) करण वीर्य। प्राप्त शक्ति का जब तक उपयोग नहीं किया जाता तब तक वह लब्धि वीर्य है और जब उस शक्ति का प्रयोग किया जाता है तब वह करण वीर्य बन जाता है। व्यक्ति दोनों शक्तियों से संपन्न बने। वह लब्धि वीर्य संपन्न भी बने और करण वीर्य संपन्न भी बने। शक्ति संपन्नता के साथ-साथ आदमी में यह विवेक जागृत होना चाहिए कि जब तक मेरे भीतर

शक्ति है तब तक मैं कोई अच्छा काम कर लूं। शक्ति क्षीण होने के बाद अधिक काम नहीं किया जा सकता।

व्यक्ति अपनी शक्ति के द्वारा किसी का अहित न करे, कल्याण ही करे। शक्ति भी ऐसे ही व्यक्तियों के पास जाए, जिनके हाथों से दुनिया का कल्याण हो सके। हर व्यक्ति का यह संकल्प रहे कि वह अपनी शक्ति का दुरुपयोग तो करे ही नहीं, शक्ति का अनुपयोग भी न हो, जितना हो सके वह अपनी शक्ति का सदुपयोग ही करे। हर व्यक्ति के जीवन में अच्छाइयां भी होती हैं और कमियां भी होती हैं। यदि व्यक्ति अपनी कमियों को सुधारते हुए अच्छाइयों को बनाए रखता है तो उसकी शक्ति का भी विकास होता है और जीवन भी अच्छा बनता है। कभी-कभी व्यक्ति की एक-एक कमी भी उसके मार्ग को प्रशस्त कर देती है, अच्छा रास्ता बना देती है। महान दार्शनिक सुकरात के जीवन में भी एक कमी थी कि उसका चेहरा सुंदर नहीं था। आकर्षक नहीं था। सुकरात ने अपनी इस कमी को भी अच्छे रूप में स्वीकार किया। वह बार-बार अपने चेहरे को दर्पण में देखा करता था। हालांकि वह इस बात से विज्ञ था कि उसका चेहरा सुंदर नहीं है। वह दर्पण के सामने खड़ा होकर यह सोचता था कि इस चेहरे की भांति मेरा आचार कभी कदाचार न बन जाए। मेरा आचरण अच्छा रहे। मैं अपनी शक्ति के सदुपयोग से जनता का कल्याण करता रहूं।

व्यक्ति अपने पुरुषार्थ/शक्ति को सही दिशा में नियोजित करे। सही दिशा में शक्ति का प्रयोग करने से आदमी को सफलता मिल सकती है।

३

मनुष्य जीवन : सर्वोत्तम उपहार

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'दुल्लहे खलु माणुसे भवे'** अर्थात् मनुष्य जन्म दुर्लभ है। प्रश्न उठ सकता है कि जहां अरबों मनुष्य हैं और आबादी पर नियंत्रण करने की बात कही जाती है, फिर मनुष्य जन्म दुर्लभ कैसे है? जैनदर्शन में अनंत जीव माने गए हैं। उनकी तुलना यदि समुद्र से की जाए तो बहुत सटीक बैठती है। एक ओर समुद्र है, दूसरी ओर बूंद है। समुद्र के समान तो अनंत जीव हैं और उस अथाह समुद्र की बूंद के समान मनुष्य हैं।

यह आत्मा संसार की विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करते-करते कभी-कभार मानव जन्म को प्राप्त करती है। शास्त्रों में चौरासी लाख जीव योनियों का उल्लेख मिलता है। उन सबमें मनुष्य योनि को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इसकी सर्वश्रेष्ठता के कई आधार हो सकते हैं। पहला आधार यह है कि भगवत्ता-प्राप्ति की अर्हता एकमात्र मनुष्य में ही होती है, अन्य किसी प्राणी में नहीं। दूसरा आधार यह है कि चिंतन की विशदता जितनी मनुष्य में हो सकती है, उतनी किसी अन्य प्राणी में नहीं। मनुष्य के पास जो मस्तिष्कीय शक्ति है, वह दृश्य जगत् के किसी अन्य प्राणी में दुर्लभ है। ऋषि-महर्षि लोग अतीन्द्रिय ज्ञान, आत्मज्ञान से सूक्ष्म और विप्रकृष्ट को जान लेते थे अथवा वर्तमान में भी जान रहे होंगे किन्तु मनुष्य के दिमाग की करामात है कि बिना किसी विशेष ज्ञान के मात्र सूक्ष्म यंत्रों के माध्यम से सूक्ष्म को और दूरस्थ को भी देख रहा है।

शरीर से मनुष्य होना भी विशेष बात है किन्तु आचार से, व्यवहार से

मनुष्य हो, मानव में मानवता हो, वह बहुत विशेष बात है। मात्र शरीर से मानव कहलाने वाला व्यक्ति कभी-कभी दानव भी बन सकता है। जब मनुष्य के दिमाग में हिंसा का भूत सवार हो जाता है तो वह अपने ही भाई की हिंसा जैसा घिनौना कार्य भी कर बैठता है। आतंकवाद, भ्रष्टाचार जैसे भयंकर अपराध भी आदमी ही करता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

इन्सानियत की रोशनी गुम हो गई कहां।
साये हैं आदमी के मगर आदमी कहां।।

दुनिया का सबसे खराब प्राणी अथवा अधमाधम प्राणी आदमी है तो सबसे उत्तम प्राणी भी आदमी ही है। एक ओर युद्ध की विभीषिका फैलाने वाला आदमी है तो दूसरी ओर शांति की स्थापना करने वाला भी आदमी ही है। आदमी पापकारी है तो परोपकारी भी है। उसमें दुर्जनता है तो सज्जनता भी है। आदमी के भीतर हिंसा की वृत्ति है तो अहिंसा की शक्ति भी है, असत् है तो सत् भी है, अंधकार है तो प्रकाश भी है।

प्रश्न हो सकता है कि इस दुर्लभ मनुष्य जन्म का कौन व्यक्ति कितना/कैसा उपयोग करता है? निरंतर जागरूक रहने वाला व्यक्ति ही जीवन का सही उपयोग कर सकता है। आदमी अपने जीवन का दुरुपयोग तो करे ही नहीं, उसे अनुपयोगी भी न बनाए अपितु किसी-न-किसी रूप में उपयोगी बनाए रखे। आत्महित और परहित के लिए कुछ-न-कुछ करता रहे।

जीवन का सदुपयोग करने वाला व्यक्ति ही इस दुर्लभ मनुष्य जन्म का लाभ उठा सकता है।

जीवन का यथार्थ

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'अधुवं जीवियं नच्चा'** आदमी के जीवन का एक यथार्थ प्रकट किया गया है कि तुम्हारा जीवन अध्रुव है, अशाश्वत है। तुम यह मत सोचो कि मुझे हमेशा यहां रहना है। आचारांग वृत्ति में अध्रुव के दो अर्थ प्राप्त होते हैं—अनित्य और चल। अनित्य वह होता है, जिसका नाश अवश्यंभावी होता है और चल वह होता है जो गतिशील होता है। इस संसार में कुछ भी ध्रुव नहीं है। राज्य, धन, परिवार आदि सब कुछ अनित्य हैं। और तो क्या, बड़े-बड़े महापुरुष भी यहां स्थायी नहीं रह सके। मुझे स्मरण हो रहा है कि एक बार गुरुदेव तुलसी के सान्निध्य में साधु-सभा जुड़ी हुई थी। रात्रि का समय था। पूज्य प्रवर ने हम संतों को प्रेरणा देते हुए कहा—'साधुओं! तुम लोग तत्त्वज्ञान आदि में विकास करो। आज तो हम हैं किन्तु हम सदा नहीं रहेंगे और एक दिन वह भी आ गया जब हमारे देखते-देखते गुरुदेव तुलसी का महाप्रयाण हो गया।

शरीर और आत्मा के संयोग से बना यह जीवन अध्रुव है, इस बात को समझने के बाद शाश्वत सिद्धि के मार्ग को भी जानना चाहिए। क्योंकि इस दुनियां में अगर दुःख है तो दुःख मुक्ति का मार्ग भी है। आवश्यकता है उस मार्ग को खोजने और उस पर चलने की। वह मार्ग है—**'विणियट्टेज्ज भोगेसु'** भोगों से विनिवृत्ति करना। एक आम आदमी के लिए भोग का सर्वथा त्याग करना कठिन होता है किन्तु भोग के साथ योग का संयोग हो जाए। भोग निरंकुश न रहे, उस पर योग का अनुशासन रहे। समाज में मनोरंजन भी चलता

है। उसे भी सर्वथा नहीं छोड़ा जा सकता। किंतु मनोरंजन के साथ-साथ आत्मरंजन को भी जोड़ा जाए। कुछ समय आत्म-रमण के लिए भी अर्पित किया जाए। संसार में राग भी चलता है। परिवार में एक-दूसरे के प्रति राग भाव होता है। इस राग के बिना संबंध टिक नहीं पाते। यह दुनिया राग के धागे से बंधी हुई है किंतु साथ में विराग भाव, त्याग भाव को भी जोड़ा जाए। समाज में प्रवृत्ति चलती है किन्तु निवृत्ति का योग भी आवश्यक होता है। इस प्रकार भोग के साथ योग, मनोरंजन के साथ आत्मरंजन, राग के साथ विराग और प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का योग हो जाए तो आदमी इहलोक और परलोक दोनों को सुखमय बना सकता है।

आदमी अध्रुवता के सिद्धांत को याद रखे और यह चिंतन करे कि मेरा आयुष्य भी परिमित है। मुझे भी एक दिन यहां से जाना होगा। प्रायः आदमी सौ वर्ष से पहले-पहले परभवगामी बन जाता है। हालांकि मनुष्य की तुलना में देवों का आयुष्य बहुत लम्बा होता है। हजारों-लाखों वर्ष तो क्या, हमारी गणित से भी पार हो चुके आंकड़े पल्योपम, सागरोपम तक का आयुष्य होता है। इनकी तुलना में देखा जाए तो वर्तमान आदमी का आयुष्य बहुत अल्प है। आदमी आयुष्य की सीमा को समझे और क्षण-क्षण जागरूक रहने का प्रयास करे। क्योंकि पता नहीं कब क्या घटित हो जाए? आदमी जाता तो है किसी कार्यक्रम में भाग लेने के लिए किंतु सड़क पर कोई ऐसी दुर्घटना घट जाती है कि कोई दूसरा कार्यक्रम हो जाता है। इसलिए आदमी स्वयं को स्थायी न माने, राही माने। हर समय जागरूक रहे और अपने जीवन का अंकन करे। इस अध्रुव जीवन में हो सके तो किसी का भला करे किंतु किसी का बुरा न करे। स्वयं कुछ कष्ट झेलकर भी दूसरों का हित करने का प्रयास करे। आदमी परोपकारपूर्ण जीवन जीए, किसी का अपकार न करे। किसी का हित न हो सके तो किसी का अहित भी न करे। इस प्रकार के सत्कार्यों से व्यक्ति अपने जीवन को सुफल बना सकता है।

५

नश्वर शरीर का आध्यात्मिक लाभ

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–**'पुव्वकम्म-खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे।'** अध्यात्म के आचार्यों ने जीवन का एक लक्ष्य निर्दिष्ट किया–आत्मशोधन। आत्मा की शुद्धि के लिए अध्यात्म/धर्म की आराधना की जाती है। धर्म की साधना करने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन बनता है शरीर। जब तक शरीर स्वस्थ है यानी जब तक बुढ़ापा नहीं आता, व्याधियां नहीं बढ़ती और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं होती, तब तक धर्म का आचरण किया जा सकता है।

शरीर को धारण करने का और उसको उचित आहार से पुष्ट रखने का एकमात्र उद्देश्य है कि पूर्व संचित कर्मों का क्षय किया जा सके और संयम की साधना से नए कर्मों को रोका जा सके। शरीर-धारण का यह एक आध्यात्मिक लक्ष्य है। यदि लक्ष्य सामने है तो शरीर को टिकाने की भी सार्थकता है। कोई लक्ष्य न हो तो फिर शरीर को टिकाने का अधिक प्रयास क्यों किया जाए? शरीर को बनाए रखने के लिए अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती हैं। उनमें एक है–भोजन। भोजन शरीर को पुष्ट रखने और टिकाने के लिए अति आवश्यक है। भोजन के बिना कुछ समय तक जीवन जीया जा सकता है पर लम्बे समय तक नहीं जीया जा सकता। जीवन चलाने के लिए भोजन करना आवश्यक है किन्तु भोजन के साथ विवेक भी आवश्यक होता है। कब, किस समय, क्या, कितना और कौनसा भोजन करना चाहिए? यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है।

उपवास यदि निर्जरा का साधन बनता है तो भोजन भी निर्जरा का साधन बन सकता है। बशर्ते भोजन का उद्देश्य स्पष्ट हो। जीने के लिए भोजन किया जाए। भोजन के लिए न जीया जाए। निर्जरा के बारह प्रकार बताए गए हैं। उनमें पहला भेद है—अनशन। अनशन के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक। वर्तमान काल के परिप्रेक्ष्य में उपवास से लेकर छह महीने तक की जो तपस्या की जाती है, वह इत्वरिक अनशन कहलाता है। जीवन पर्यन्त के लिए जो अनाहार की साधना स्वीकार की जाती है, वह यावत्कथिक कहलाता है। अनशन की साधना सबके लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती। हालांकि मेरा तो यह मंतव्य है कि उपवास जिस व्यक्ति के लिए अनुकूल रहे, उसे उपवास या कुछ दिनों के लिए एकांतर अवश्य करना चाहिए। किंतु जिन व्यक्यिों के लिए उपवास अनुकूल नहीं रहता। उनके लिए ऊनोदरी तप बड़ा लाभदायी होता है। किसी ने पूछा कि पाचक दवा कौनसी होती है? उत्तर दिया गया कि सबसे अच्छी पाचक दवा ऊनोदरी तप होता है। खाने में संयम रहेगा तो पाचन अपने आप ठीक होगा। यह ऊनोदरी का तप और भी अनेक दृष्टियों से लाभदायी होता है। स्वाध्याय, इंद्रिय-संयम, कषाय-शमन आदि की साधना में ऊनोदरी योगभूत बनती है। इस प्रकार आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में भोजन के विषय में अनेक नियम उपनियम व्याख्यात हैं।

भोजन के विषय में पहला नियम तो यह होना चाहिए कि साधक की भोजन के प्रति आसक्ति न हो। क्योंकि खाद्य असंयम का मूल कारण है खाद्य पदार्थ के प्रति आसक्ति होना। आसक्ति नहीं है तो संयम अपने आप सध जाता है। भोजन का दूसरा नियम यह होना चाहिए कि व्यक्ति भोजन करने में जल्दबाजी न करे। धीरे-धीरे अच्छी तरह चबा-चबाकर करे। ग्रास भी छोटा ले। जल्दी-जल्दी भोजन करने से खाने में असंयम भी हो सकता है और पाचन की दृष्टि से भी कठिनाई पैदा हो सकती है। इसलिए जो व्यक्ति धीरे-धीरे चबा-चबाकर खाता है उसे तीन लाभ होते हैं—वह खाने में संयम करता है, आंतों को श्रम कम करना पड़ता है और योग साधना भी हो जाती है। भोजन के संबंध में तीसरा नियम यह होना चाहिए कि भोजन करते समय दिमाग में कोई अन्य विचार नहीं रखना चाहिए। भोजन करने से पूर्व खाद्य पदार्थ का निर्णय किया जा सकता है पर आहार करते समय दिमाग में यह चिंता नहीं रहनी चाहिए कि मैं अमुक पदार्थ का सेवन कर रहा हूं। इससे मेरे वात, पित्त या कफ का प्रकोप बढ़ जाएगा। विवेकपूर्ण निर्णय के बाद आदमी निश्चिंत होकर भोजन करे। भोजन के दौरान हंसी-मजाक व बातें न करें। बार-बार न

खाएं। मध्याह्न कालीन भोजन के बाद सायं कालीन भोजन तक पानी के अतिरिक्त कुछ भी खाना पीना नहीं चाहिए। भोजन का अवस्था के साथ भी गहरा संबंध होता है। प्रायः एक अवस्था के बाद तलवा और मिठाई आदि का परिहार करना चाहिए। कभी-कभी नमक परिहार और अन्न परिहार भी किया जा सकता है।

इस प्रकार पवित्र भावना के साथ जागरूकतापूर्वक भोजन किया जाए तो स्वास्थ्य लाभ होता है और साधना पुष्ट बनती है। स्वाद के लिए खाना अज्ञान, जीने के लिए खाना आवश्यकता और संयम की रक्षा के लिए खाना साधना है। साधक अपनी कर्म-निर्जरा और आत्मशुद्धि के लिए जीवन जीता है और जीवन रूपी गाड़ी को चलाने के लिए भोजन करता है। स्पष्ट लक्ष्य के साथ जीने वाला व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक व सुफल बना सकता है।

६

कल नहीं आज

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'णत्थि कालस्स णागमो'** मृत्यु के लिए कोई भी समय अनवसर नहीं होता। वह कभी भी, कहीं भी और किसी की भी हो सकती है। इस आधार पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृत्यु दुनिया की एक नियति है, युनिवर्सल लॉ है, जिसे कभी भी किसी के द्वारा टाला नहीं जा सकता। कितना ही बड़ा शक्तिशाली क्यों न हो, देवता भी क्यों न हो, मृत्यु का अपवाद कोई नहीं हो सकता। मृत्यु एक बालक की भी हो सकती है, युवक की भी हो सकती है और अवस्था प्राप्त व्यक्ति की तो होती ही है। इस दुनिया का नियम है कि मौत हर प्राणी की होती है।

वृक्ष के सूखे पत्तों को नीचे गिरते देखकर नयी कोंपलें उनका उपहास करने लगीं। तब उन पत्तों ने कहा—जरा ठहरो, जो हमारे पर बीती है, वही तुम्हारे पर बीतने वाली है—

पान पडंता देखकर, हंसीज कुंपलियाह।
मो बीती तुझ बीतसी, धीरी बापडियाह।।

जीवन के दो बिन्दु हैं, आदि बिन्दु है—जन्म और अंतिम बिन्दु है—मृत्यु। जन्म और मृत्यु के बीच में जीवनकाल है। यदि इसका सही उपयोग किया जाए तो यह व्यक्ति के लिए बहुत काम का है। इस जीवनकाल में जो व्यक्ति आत्म-कल्याण का काम करता है, परकल्याणकारी काम करता है, दूसरों की सेवा करता है, सबके हित का चिंतन करता है, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम, मैत्री और करुणा के भाव रखता है, स्वयं कष्ट झेलकर भी दूसरों का हित करता है,

उसका जीवन धन्य बन जाता है और उसकी मृत्यु भी धन्य बन जाती है।

जीसस क्राइस्ट ने जागरूकता से कर्तव्य-पालन करने की प्रेरणा देते हुए कहा–'एक सेठ को दूसरे गांव जाना था। उसने नौकरों को समझाते हुए कहा–जिसके जिम्मे जो काम दिया है, मेरे आने तक पूरा हो जाना चाहिए। दूसरे सभी नौकर सेठ के जाते ही अपने काम में लग गए किंतु एक ने सोचा–अभी तो सेठ गया ही है, आने में समय लगेगा, बाद में कर लूंगा। संयोग से सेठ अनुमान से जल्दी आ गया। जिन्होंने अपना कार्य पूरा कर रखा था, उनसे वह बहुत प्रसन्न हुआ। जिसने नहीं किया, उसे गफलती समझकर छुट्टी दे दी।'

क्राइस्ट ने इस दृष्टांत का मर्म समझाते हुए बताया–'हर मनुष्य के जीवन में अकल्पित परिस्थितियां बनती रहती हैं, घटनाचक्र के थोड़े से घुमाव से उसके विचार धरे रह जाते हैं, इसलिए कर्तव्य के पालन में एक क्षण भी देर नहीं करनी चाहिए।' कहा भी गया है–

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत, पूर्वाह्ने चापराह्निकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः, कृतमस्य न वा कृतम्।।

जो कल करना है, वह आज तथा जो सायं करना है वह प्रातःकाल करो। मृत्यु यह नहीं देखती कि कार्य किया है या नहीं। 'कल नहीं आज' यह जीवन का स्वर्णिम सूत्र है, जागरूकता प्रदान करने वाला सूत्र है। भगवान महावीर ने कहा–**'जहासुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबंधं करेह।'** देवानुप्रिय! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो किन्तु जो करना है उसमें बिलंब मत करो। इस मृत्यु का कोई भरोसा नहीं होता। यह कहीं भी, कभी भी और किसी भी व्यक्ति के पास आ सकती है। इसलिए आदमी को सतत जागरूक रहना चाहिए। बीता हुआ समय पुनः नहीं मिलता। अतः क्षण-क्षण का उपयोग करना चाहिए।

७

जीवन का आनंद

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं।'** जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है। इस संसार में जन्म है, बुढ़ापा है, रोग है और मृत्यु है। इन सबसे बच पाना कठिन होता है। यदि संयम प्रधान जीवन शैली हो तो बीमारियों से कुछ बचा भी जा सकता है। किंतु मृत्यु तो अवश्यंभावी है। जैन दर्शन आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसका मानना है कि आत्मा अतीत में भी कहीं थी, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगी। इस मान्यता के आधार पर मृत्यु के बाद फिर जीवन मिलता है इसलिए आदमी को भविष्य के बारे में भी चिंतन करना चाहिए। भविष्य भी उसी का अच्छा बनता है जिसका वर्तमान अच्छा होता है। वर्तमान में आदमी जैसा कर्म करता है भविष्य में उसे वैसा ही फल मिलता है। एकमात्र धर्म एक ऐसा तत्त्व है जो वर्तमान और भावी दोनों को उजला बनाने वाला है।

जो व्यक्ति केवल पदार्थ-सुख में आसक्त रहता है, आत्मिक-सुख की ओर अग्रसर नहीं होता, मानसिक शांति को अधिक महत्त्व नहीं देता तो समझना चाहिए कि वह बाल है, नादान है। उसने अभी धर्म के मर्म को समझा नहीं है। समझदार आदमी इन छोटी-मोटी वस्तुओं की प्राप्ति से, पदार्थों से खुश नहीं होता। वह तो परम वस्तु को पाकर ही प्रसन्न होता है। एक संत के पास भिखारी गया, बोला—बाबा! मुझे कुछ दो। बाबा बोला—मेरे पास कुछ नहीं है। भिखारी कुछ तो देना ही होगा। बाबा—मैंने अभी एक पत्थर फैंका था,

वह तुम ले लो। भिखारी ने देखा कि यह तो पारसमणि है। उसने जैसे ही पत्थर को उठाया, मन में विचार आया, लगता है बाबा के पास इससे भी अधिक कीमती वस्तु है। इसलिए बाबा ने इसको फैंका है। वह तत्काल संन्यासी के पास आया और बोला—बाबा! मुझे तो वह वस्तु दें जिसको प्राप्त कर आपने इस पत्थर को फैंका है। संन्यासी—वह वस्तु तो आत्मा की है। परम शांति, परम आनंद और परमज्ञान की है। मुझे वह मिल गई। तब इस पत्थर से विरक्ति हो गई।

धर्म एक ऐसा मार्ग है, जिस पर चलने वाला व्यक्ति उस परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है जिसको पाने के बाद ये बाहर के पदार्थ, बाहर की दुनिया, बाहर के आकर्षण फीके लगने लगते हैं। फिर वह भौतिक प्रलोभनों की चिकनी मिट्टी में कभी नहीं फिसलता। वह नाना प्रकार के कष्टों को सहकर भी आत्महित के लिए अग्रसर होता है। उसके सामने बाह्य पदार्थ नगण्य होते हैं। वह उनमें आसक्त नहीं होता। उसकी प्रवृत्ति अहिंसा, संयम, ईमानदारी आदि से अनुप्राणित होती है। अपेक्षा है, आदमी के जीवन में यह निष्ठा जाग जाए कि मैं ईमानदारी के रास्ते पर चलूंगा। नैतिकता के पथ पर चलने वाले व्यक्ति के सामने कठिनाइयां भी आ सकती है किन्तु उन कठिनाइयों को झेलने की क्षमता हो तो आदमी ईमानदारी के रास्ते पर चल सकता है। ईमानदारी, मैत्री, करुणा, अहिंसा ही तो धर्म है। धर्म ही व्यक्ति के लिए शरण और त्राण होता है।

गुरुकुल के शिष्यों ने जिज्ञासा की—गुरुदेव! धन परिवार और धर्म में से कौन सच्चा मित्र है? गुरु ने सीधा उत्तर न देकर एक कहानी सुनाई—'एक व्यक्ति के तीन मित्र थे। एक बहुत प्रिय, दूसरा मध्यवर्ती और तीसरा उपेक्षित। एक बार वह किसी मुसीबत में फंस गया। सहायता के लिए वह सबसे प्रिय मित्र के पास गया। उसने उससे सहायता करने और राजदरबार तक साथ चलने के लिए कहा। मित्र ने स्पष्ट इन्कार कर दिया। फिर वह मध्यवर्ती के पास गया। उसने अन्य प्रकार से सहायता करने का भरोसा दिलाया किंतु राजदरबार तक जाने से इन्कार कर दिया। अब वह तीसरे मित्र के पास गया। हालांकि उससे घनिष्टता तो कम थी किंतु उसने मित्रता निभाई। वह राजदरबार तक गया और पूरी सहायता करके मित्र को संकट से उबारा। गुरु ने शिष्यों को समझाते हुए कहा—वत्स! धन वह है, जिसे परम प्रिय समझा जाता है पर वह मृत्यु के बाद घर से एक कदम भी आगे नहीं जाता। परिवार वह है, जो यथासंभव सहायता तो करता है किंतु तभी तक करता है जब तक शरीर है। धर्म ही एकमात्र ऐसा मित्र है, जो इहलोक और परलोक में साथ देता है, दुर्गति से बचाता है,

चिरस्थायी सुख शांति प्रदान करता है। यद्यपि उसकी उपेक्षा की जाती है पर सच्चा मित्र वही है। इसलिए आदमी धर्म का आचरण करे। धर्म की शरण को स्वीकार करने वाला व्यक्ति अपने वर्तमान जीवन को और भविष्य को सुफल बना सकता है।

८

श्रावकत्व का मूल्यांकन

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।'** कुछ भिक्षुओं से गृहस्थों का संयम प्रधान होता है। आदमी तीन प्रकार के होते हैं—अव्रती, देशव्रती और सर्वव्रती। भिक्षु सर्वव्रती होते हैं, वे पूर्णरूप से संयम की साधना करते हैं। श्रावक देशव्रती होते हैं, वे आंशिक रूप में संयम की आराधना करते हैं। सामान्यतया देशव्रती श्रावक सर्वव्रती साधुओं की बराबरी नहीं कर सकता किंतु नामधारी पाखंडी साधु श्रावकों की आंशिक तुलना में भी नहीं आ सकते। इसी तथ्य को प्रकट करते हुए उत्तराध्ययन-चूर्णि में बताया गया है—

'देसेक्कदेसविरया समणाणं सावगा सुविहियाणं।
जेसिं परपासंडा संतिमपि कलं न अग्घंति।।

बहुत वर्षों पहले इन्दौर के भाई सी. महेन्द्र जैन ने गुरुदेव श्री तुलसी से प्रश्न पूछा—समाज के लिए साधु भार या आधार? गुरुदेव ने समाधान की भाषा में कहा—समाज के लिए साधु भार हैं यदि उनकी साधुता मात्र प्रदर्शन है और वे साधु-वेश की ओट में समाज से सुविधाएं प्राप्त करते हैं। केवल सुख सुविधावादी मनोवृत्ति को प्रश्रय देते हैं, शास्त्रीय एवं संघीय मर्यादा में शिथिल हैं और अनुशासनहीन हैं।

समाज के लिए साधु आधार होते हैं यदि वे समाज को जीवन विकास की सही दिशा देते हैं, चैतन्य जागरण का प्रतिबोध देते हैं, तनाव-विसर्जन और संतुलित जीवन की कला सिखाते हैं, समाज में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों

को प्रतिष्ठित करते हैं, पतन के मार्ग पर अग्रसर लोगों को आलंबन देकर उनकी गति को मोड़ देते हैं।

कुछ-कुछ गृहस्थ कुछ-कुछ साधुओं से भी ज्यादा संयमी होते हैं। किसी साधु में चंचलता हो सकती है, पदार्थों के प्रति आकर्षण हो सकता है और वाणी का असंयम भी हो सकता है जबकि किसी श्रावक में इन सब बातों का अभाव हो सकता है।

सुजानगढ़ के श्रावक श्री रूपचंदजी सेठिया का संयम विशिष्ट था। उनके मन में हिंसा का भय रहता था। वे चलते समय बात नहीं करते, स्नान करने में पैंतालीस तोला पानी से अधिक काम में नहीं लेते थे। वे भाषा का बहुत विवेक रखते थे। सावद्य कार्य के लिए सीधा आदेश-निर्देश नहीं करते, किसी को झूठा विश्वास नहीं देते थे। प्रामाणिकता के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। वे अपने व्यवसाय में तोलमाप में कमी-बेशी नहीं करते। रूपचंदजी सहनशील भी बहुत थे। छोटी-छोटी बातों में उत्तेजित नहीं होते थे। एक बार वे व्याख्यान श्रवण के बाद घर जा रहे थे। उस समय किसी ने बिना देखे ऊपर से राख गिराई। राख उनके सिर पर गिर गई। रूपचंदजी के साथ ठाकुर था। वह उत्तेजित होकर बोला—ध्यान नहीं रखते? रूपचंदजी ने कहा—उसने जान बूझकर थोड़े ही गिराई है। इस प्रकार उनके व्यवहार से अहिंसा संयम, क्षमा, प्रामाणिकता आदि का दर्शन होता था।

गार्हस्थ्य में रहते हुए भी कुछ अंशों में सन्तता का जीवन जीया जा सकता है। जैन शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है कि गृहस्थ के वेश में रहने वाला भी केवलज्ञानी बन सकता है, सिद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। गृहस्थ के परिवेश में रहने वाला व्यक्ति सलक्ष्य साधना और संयम का अभ्यास करे तो वीतरागता का पथ प्रशस्त हो सकता है।

९

निष्काम कर्म और सकाम निर्जरा

जैन वाङ्मय का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है—**'वण्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए।'** मुनि यश का इच्छुक होकर किसी भी क्षेत्र में कुछ भी न करे। आदमी कार्य करता है उसके साथ नाम, ख्याति, यश पाने की लालसा भी बनी रहती है। कुछ व्यक्तियों में नाम पाने की भावना ज्यादा होती है, काम कम करते हैं। कुछ व्यक्ति नाम होता है तब तो कार्य करते हैं, नाम नहीं तो काम भी नहीं। किंतु बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो नाम हो या न हो, काम करते रहते हैं।

पत्थर दो प्रकार के होते हैं। कुछ तो नींव में डाले जाते हैं और कुछ ऊपर दिखाई देते हैं, कंगूरे में लगाए जाते हैं। ध्वजा की प्रशंसा हो सकती है किंतु नींव के पत्थर को भी भुलाया नहीं जा सकता। लाल बहादुर शास्त्री से किसी व्यक्ति ने कहा—आप संकोचशील स्वभाव के हैं। औरों का कितना नाम हो रहा है। आप भी प्रयास करें तो आपका भी बहुत नाम हो सकता है। शास्त्रीजी ने बहुत मार्मिक शब्दों में कहा—भाई! मुझे एक बार लाला लाजपतराय ने कहा था कि शास्त्री! ताजमहल में दो प्रकार के पत्थर लगे हुए हैं—नींव के पत्थर और कंगूरे के पत्थर। तुम्हें कंगूरे का नहीं, नींव का पत्थर बनना है।

कर्म के दो प्रकार हैं—निष्काम-कर्म और सकाम-कर्म। कर्त्तव्य-निर्वाह और साधना के लिए जो कर्म किया जाता है, वह निष्काम-कर्म है। निष्काम-कर्म और सकाम निर्जरा लगभग समान है। साधक नाम, ख्याति, यश की कामना न करे और फल-प्राप्ति की इच्छा से कोई काम न करे। अपना कर्त्तव्य

अथवा साधना समझकर कार्य करता रहे।

चीन में उन दिनों राजतंत्र था। वहां एक राज्य में राजा वू का शासन था। एक दिन एक बौद्ध भिक्षु बोधिधर्म राजधानी में आया। राजा वू उसके दर्शन करने के लिए गया। राजा ने बोधिधर्म से कहा—मैंने बुद्ध के अनेक मन्दिर बनवाये, धर्म-प्रचार पर अपार धन खर्च किया, धर्म-शास्त्र बंटवाए, क्या अब तो मुझे मोक्ष मिल जाएगा? बोधिधर्म के कुछ देर सोचा। फिर वे बोले—'तुम्हें नहीं मिलेगा।' जब व्यक्ति यह सोचता है कि यह मैंने किया, मैं सक्षम हूं तो वह पाप करता है। जब तक व्यक्ति में से 'मैं' का भाव नहीं निकलता, पुण्य नहीं मिलता। 'मैं-ग्रंथि' का त्याग ही शांति और मोक्ष का पहला आधार है।

इस 'मैं' की भावना के पीछे नाम, यश की कामना बनी रहती है। दशवैकालिक सूत्र में बहुत ठीक कहा गया—**'नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहि-ट्ठेज्जा।'** साधक कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप न करे। आचार्य भिक्षु ने कहा—

अह लोक अर्थे तप करें, चक्रवतादिक पदवी काम।
केइ परलोक ने अर्थे करें, नहीं निरजरा तणां परिणांम।।
केइ जस महिमा बधारवा, तप करें छें तांम।
इत्यादिक अनेक कारण करें, ते निरजरा कही छें अकांम।।

कई इस लोक के सुख के लिए चक्रवर्ती आदि पदवियों की कामना से, कई परलोक के सुख के लिए और कई यश-महिमा बढ़ाने के लिए तप करते हैं। इत्यादिक अनेक कारणों से जो तप किया जाता है तथा जिस तप में कर्म-क्षय करने के परिणाम नहीं रहते—वह अकाम निर्जरा कहलाती है। मात्र अकाम निर्जरा करने वाला व्यक्ति बहुत ऊपर तक नहीं पहुंच सकता।

साधक का अध्यात्म के प्रति परम निष्ठा और परम समर्पण का भाव बना रहे। वास्तव में उच्च साधक वह होता है जो नाम, ख्याति, यश की भावना को ही समाप्त कर देता है।

साधक अप्रशस्त कामना तो करे ही नहीं, कामना भी करे तो प्रशस्त करे, उच्च स्तर की करे, स्व-पर कल्याण की करे 'यह कल्याण पथ है।'

१०

समय का मूल्यांकन

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'समयं गोयम! मा पमायए।'** गौतम क्षणभर भी प्रमाद मत कर। भगवान महावीर गौतम के माध्यम से हम सबको प्रेरणा दे रहे हैं कि समय मात्र भी प्रमाद मत करो। न जाने कब क्या घटित हो जाए?

मनुष्य जीवन में ज्वार-भाटे जैसा उतार-चढ़ाव आता रहता है। जो व्यक्ति समय के मूल्य को पहचानते हैं वे समय पर अपना काम करते हैं और सफलता हासिल कर लेते हैं। जो समय के महत्त्व को नहीं जानते या प्रमादवश अवसर का लाभ नहीं उठा पाते, समय उनके हाथ से निकल जाता है और चाहे-अनचाहे असफलता को स्वीकार करना पड़ता है।

कर्नल राहत ताश खेल रहे थे। नौकर ने वाशिंगटन की सेना संबंधी एक सूचना-पत्र लाकर उन्हें दिया। उन्होंने पत्र देखे बिना ही जेब में रख लिया और ताश खेलते रहे। खेल समाप्त होने पर सैनिकों से शत्रु-सेना का सामना करने के लिए तैयार होने को कहा, परंतु अवसर निकल चुका था। उन्हें शत्रु-सेना द्वारा घेरकर गिरफ्तार कर लिया गया और मौत के घाट उतार दिया गया।

प्रश्न हो सकता है, हमें प्रकृति से जो समय का उपहार मिल रहा है उसका उपयोग कैसे करें? रस्किन ने बहुत सुन्दर कहा है—काल का एक भी घंटा ऐसा नहीं होता जो मानव के भाग्य-निर्माण के लिए उपयोगी न हो। एक घड़ी भी ऐसी नहीं होती जिसके लिए निर्धारित कार्य को फिर किया जा सके। लोहा ठंडा हो जाने पर उसे कितना ही पीटो, उससे कुछ भी नया नहीं बनता।

इसी प्रकार एक बार अवसर निकल जाने पर कुछ भी हाथ नहीं लगता। कहा भी गया है—आषाढ़ का चूका किसान और डाल का चूका बंदर कहीं का नहीं रहता।

एक आदमी वह सब कुछ कर सकता है जो आज तक किसी ने नहीं किया, यदि वह समय के साथ चलता है। जिसने आज का काम कल पर छोड़ दिया, वह बहुत पीछे रह गया। वह कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर सकता। एक विद्यार्थी यह निश्चय करता है कि आज से मैं रात्रि में दो घंटे जरूर पढ़ूंगा। जैसे ही पढ़ाई का समय हुआ, मन में विचार आया, अभी तो परीक्षा में बहुत दिन बाकी हैं, अभी ऐसी कौन-सी जल्दी है? कल से मैं नियमपूर्वक पढ़ना शुरू करूंगा। वह कल कभी नहीं आता। किसी ने कल को नहीं देखा। विशेष बात तो यह है कि हम इस बात को जानते हुए भी अनजान बन रहे हैं। वर्तमान के कार्य को भविष्य के कंधे पर लाद रहे हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में बहुत रोचक तरीके से बताया गया—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया।।

कौन व्यक्ति कह सकता है कि मैं धर्म आज नहीं कल कर लूंगा। कल पर छोड़ने का अधिकार तीन व्यक्तियों को दिया गया। पहला वह व्यक्ति, जो यह कह सके कि मौत के साथ मेरी मित्रता है, घनिष्ठता है, इतना प्रगाढ़ प्रेम है कि जब मौत आएगी तब मैं कह दूंगा—मैं तो तुम्हारा सबसे प्रिय मित्र हूं, इसलिए मुझे नहीं, किसी और को ले जाओ। मौत मेरी बात का आदर करती हुई मुझे छोड़ देगी। दूसरा वह, जो अपने आपको दुनिया का सबसे बड़ा धावक मानता है और उसे इतना पक्का विश्वास है कि जब मौत आएगी तब मैं इतना तेज दौड़ जाऊंगा, पालयन कर जाऊंगा कि मौत मुझे पकड़ ही नहीं सकेगी। तीसरा वह व्यक्ति जो यह जानता है या मानता है कि मैं हमेशा के लिए अमर हूं, मेरी मृत्यु कभी नहीं होगी। दुनिया के सब व्यक्ति मर सकते हैं पर मैं कभी नहीं मरूंगा। ये तीन व्यक्ति कल के भरोसे जी सकते हैं। आज का काम कल करने की सोच सकते हैं। परंतु वास्तविकता तो यह है, अतीत में ऐसे व्यक्ति कभी हुए नहीं, वर्तमान में हैं नहीं और भविष्य में होंगे नहीं, जिन्होंने कल पर विजय प्राप्त कर ली हो। ऐसी बात कोई मंद दिमाग वाला व्यक्ति ही कह सकता है, स्वस्थ और सकारात्मक सोच वाला व्यक्ति नहीं।

किसी ने फ्रांस के एक राजनीतिज्ञ से पूछा—'आप इतना अधिक काम

करने के साथ ही सामाजिक हित के अन्य कार्यों में भाग लेने के लिए समय कैसे निकाल लेते हैं? उनका उत्तर था—मैं आज का काम आज ही कर लेता हूं।' जो व्यक्ति एक-एक पल को कीमती समझकर उसका सही उपयोग करता है, समय को बिल्कुल नष्ट नहीं करता, वह अपने सौभाग्य का निर्माण कर सकता है।

भगवान महावीर ने गौतम से कहा—गौतम! क्षण भर भी प्रमाद मत करो अर्थात् एक समय भी व्यर्थ मत करो। काल की सबसे छोटी इकाई समय है। एक निमेष में असंख्य समय बीत जाता है। इतने सूक्ष्म समय का जो सम्मान करना जानता है, इस अमूल्य निधि को संजोना जानता है और समय की कद्र करना जानता है वह अवश्य ही ऊंचाइयों को छू सकता है, उच्चता के शिखर तक पहुंच सकता है।

सौभाग्य का निर्माण करने के लिए जरूरी है दुर्भाग्य का निर्माण करने वाले प्रमाद से बचें। अति नींद एक प्रमाद है। विकथा और आलस्य प्रमाद है। नशा करना, कषायों में जाना, ये सब प्रमाद हैं। व्यक्ति निरंतर जागरूक रहने का प्रयास करे। वह ऐसा काम करे जिससे भीतर की निर्मलता बढ़े, कषाय शांत रह सके, विचारों में पवित्रता आए। मानसिक प्रसन्नता बनी रहे। यदि अप्रमत्तता के साथ समय का सदुपयोग किया जाए तो ऐसा कोई सोपान नहीं, जहां तक पहुंचा न जा सके। हम समय का अंकन करना सीखें। हमारी दिनचर्या का क्रम समय नियोजन के साथ जुड़ा रहे। कहा भी गया है—

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथा।।

भगवान महावीर ने एक सूत्र दिया—**'काले कालं समायरे'** अर्थात् जिस समय जो काम उचित हो, उस समय वही काम करना चाहिए। निर्धारित समय पर निर्धारित काम करने वाला व्यक्ति जीवन में सफलता को प्राप्त कर सकता है। अपेक्षा है, व्यक्ति समय के मूल्य को पहचाने। संसार में एक कीमती तत्त्व है 'समय'। दूसरी कीमती चीजें यदि खो जाए तो उन्हें दुबारा प्राप्त किया जा सकता है किंतु समय एक ऐसी चीज है, जिसे खोने के बाद दुबारा कभी नहीं पाया जा सकता। जागरूकता, अप्रमत्तता के साथ समय का नियोजन करने वाला व्यक्ति सौभाग्यशाली होता है और वह सफलता के उत्तुंग शिखर तक भी पहुंच सकता है।

११

समय की सार्थकता

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–'**खणं जाणाहि पंडिए।**' अर्थात् पंडित व्यक्ति एक-एक क्षण का अंकन करे। जैसे आदमी को सोच-समझकर खर्च करता है, वैसे ही आदमी समय को भी सोच-समझकर खर्च करे।

समय धन है। जो व्यक्ति समय का उपयोग करना जानता है, समय के मूल्य को समझता है, वह अपने जीवन में बड़े-बड़े कार्यों को संपादित कर सकता है। जो व्यक्ति समय की कीमत को नहीं जानता, समय खर्च करने में लापरवाही करता है, वह समय का दुरुपयोग करता है और हाथ में आए हुए अवसरों को भी खो देता है। जो समय एक बार नष्ट हो गया, उसे पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता। खोये हुए धन को परिश्रम से पुनः प्राप्त किया जा सकता है, विस्मृत ज्ञान को पुनः याद किया जा सकता है, अस्वस्थ शरीर को दवा आदि के प्रयोग से पुनः स्वस्थ बनाया जा सकता है किंतु बीते हुए क्षण को पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता।

एक आदमी बेंजामिन फ्रैंकलिन की दुकान पर गया और एक पुस्तक की ओर संकेत करके पूछा–इस पुस्तक का मूल्य कितना है? क्लर्क ने कहा–एक डॉलर। आदमी–कुछ कम नहीं हो सकता? क्लर्क– नहीं।

आदमी–क्या दुकान के मालिक मिस्टर फ्रैंकलिन अंदर हैं?

क्लर्क–हां हैं, किंतु अभी वे काम में लगे हुए हैं।

आदमी–मैं उनसे मिलना चाहता हूं। बेंजामिन काम छोड़कर बाहर आए। उस आदमी ने पूछा–मिस्टर फ्रैंकलिन। इस पुस्तक का मूल्य कितना लेंगे?

फ्रैंकलिन—सवा डॉलर। अभी-अभी तो आपका क्लर्क इसका मूल्य एक डॉलर बता रहा था। फ्रैंकलिन—उसने ठीक बताया था किंतु काम छोड़कर आने में मेरा समय भी तो खर्च हुआ है। आदमी—इस पुस्तक की कम से कम कीमत बता दीजिए। फ्रैंकलिन—डेढ़ डॉलर। अभी तो आप सवा डॉलर बता रहे थे।

फ्रैंकलिन—आप जितनी देर करते जाएंगे, इसका मूल्य बढ़ता जाएगा।

ग्राहक को बोधपाठ मिल गया कि समय बहुत बड़ा धन है, इसका उपयोग सोच-समझकर करना चाहिए।

समय बड़ा निष्पक्ष है। वह सबके पास समान रूप से रहता है। चाहे कोई अमीर हो या गरीब, उच्च पदस्थ हो या अपदस्थ। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति समय के मूल्य को पहचाने और जो काम जिस समय करना हो, उसी समय करे। सर वाल्टर रैले से एक व्यक्ति ने पूछा कि आप इतना अधिक काम इतने कम समय में कैसे कर लेते हैं? उन्होंने कहा—'मुझे जो कुछ करना होता है, वह मैं उसी समय कर लेता हूं।' समय पर किया गया कार्य फलवान बनता है। बुद्धिमान आदमी समय को पीछे से नहीं पकड़ता। वह उसे आगे से पकड़ता है और समय आने पर उसका अच्छा उपयोग करता है। जो व्यक्ति जितने समय का सदुपयोग करता है वह उसका अपना बन जाता है और जो व्यक्ति समय का शोषण करता है, गलत कार्य करता है, दुरुपयोग करता है, समय उसका कभी नहीं बनता।

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। वह आता है और चला जाता है। जो जागरूक होता है वह उसे पकड़ लेता है और उसका अच्छा लाभ उठा लेता है।

१२

तमसो मा ज्योतिर्गमय

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–**'नाणं पयासयरं।'** ज्ञान प्रकाश करता है। प्रश्न हो सकता है, अंधकार अच्छा है या बुरा? सामान्यतः अंधकार को अच्छा नहीं माना जाता परंतु कभी-कभी अंधकार भी अच्छा लगता है। प्रकाश को प्रायः अच्छा माना जाता है किंतु कभी-कभी प्रकाश भी मन को सुहावना नहीं लगता। जब रात को सोने का समय हो, उस समय ट्यूबलाइट या तेज पावर का बल्ब जला दिया जाए तो वह प्रकाश अच्छा नहीं लगता। यदि किसी को ध्यान की गहराई में पहुंचना है, कोई व्यक्ति तनावग्रस्त है और वह शांति पाना चाहता है, किसी को कुछ गंभीरता से चिंतन करना है तब भी अधिक प्रकाश अच्छा नहीं लगता। हां, किसी भयंकर अटवी को पार करना हो, अध्ययन करना हो या दैनंदिन कार्य संपादित करने हों तो प्रकाश की उपयोगिता होती है। उस समय अंधेरा अच्छा नहीं लगता। मूल्यांकन दोनों का होना चाहिए, अंधकार का भी और प्रकाश का भी।

हमारे भीतरी जगत में भी दोनों का अस्तित्व है अंधकार और प्रकाश। राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, भय व अज्ञान जहां अंधकार के प्रतीक हैं वहीं क्षमा, मैत्री, करुणा, वीतरागता और ज्ञान प्रकाश के प्रतीक हैं। भीतरी अंधकार भी उपादेय नहीं हो सकता। किसी के लिए भी हितकारी नहीं हो सकता और न ही सुफल होता है। उसका फल हमेशा कटु ही होगा। प्रार्थना की गई–

'तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।' अंधकार से मुझे प्रकाश की ओर ले जाओ, असत् से मुझे सत् की

ओर ले जाओ, मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले जाओ। अज्ञान रूपी अंधकार से ज्ञान रूपी प्रकाश की यात्रा में यात्रायित होने वाला व्यक्ति ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है।

'अज्ञानं खलु कष्टम्' अज्ञान को बहुत बड़ा कष्ट माना गया। जितने भी दुःख हैं उन सबका कारण अज्ञान को बताया गया। जब तक व्यक्ति में ज्ञान का विकास नहीं होता तब तक वह नश्वर को अनश्वर, अयथार्थ को यथार्थ और पराए को अपना मान लेता है। जिज्ञासा हुई, अज्ञान क्या है? संपूर्ण ज्ञान का अभाव भी अज्ञान हो सकता है और मिथ्याज्ञान का प्रभाव भी अज्ञान हो सकता है। एक मुनि अभी दशवैकालिक का अध्ययन कर रहा है और एक मुनि द्वादशांगी का पारायण कर चुका है। इन दोनों में भी दशवैकालिक पढ़ने वाला मुनि द्वादशांगी पढ़ने वाले मुनि की अपेक्षा अज्ञानी माना जाता है। जब यह ज्ञान की तरतमता भी अज्ञानता को दर्शाती है तो मिथ्याज्ञान तो न जाने कितनों के दृष्टिकोण को विपरीत बना देता है और कितनों की समस्या के उलझे धागों को और अधिक उलझा देता है।

एक बार किसी छोटे से गांव में एक व्यक्ति बीमार हो गया। गांव में चिकित्सा की समुचित सुविधा नहीं थी। वह व्यक्ति डॉक्टरी जांच के लिए पास के किसी कस्बे में पहुंचा। डॉक्टर ने कई दिनों तक इंजेक्शन लेने का परामर्श दिया। बीमार व्यक्ति ने सोचा—दवा पेट में ही तो पहुंचानी है। इंजेक्शन के माध्यम से पहुंचाऊं या मुंह से, क्या फर्क पड़ता है? उसने तत्काल दवा को पात्र में निकाला और पी गया। परिणाम यह आया कि कुछ समय बाद उस आदमी की मृत्यु हो गई। जब यह व्यावहारिक अज्ञान भी जीवन को नष्ट करने वाला बन सकता है तो आत्मिक अज्ञान तो न जाने कितने जन्मों तक हमें भव भ्रमण कराता रहेगा। जब तक व्यक्ति को अज्ञानता की अनुभूति नहीं होगी, हेय और उपादेय का विवेक नहीं होगा, शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता को नहीं समझेगा तब तक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

आकाशवाणी हुई—'सुकरात से बड़ा ज्ञानी नहीं है।' जनता सुकरात को धन्यवाद देने उमड़ पड़ी। सुकरात ने कहा—किसी ने गलत भविष्यवाणी कर दी, मैं ज्ञानी नहीं हूं। जनता ने सुकरात से कहा—हमारी देवी झूठ नहीं बोलती। आप इस घोषणा को स्वीकार करें। सुकरात बोला—मैं अपने अज्ञान को जानता हूं फिर सबसे बड़ा ज्ञानी कैसे हो सकता हूं? जनता ने देवी के समक्ष सुकरात का कथन प्रस्तुत किया। देवी बोली—'दुनिया में सबसे बड़ा ज्ञानी वह होता है जो

अपने अज्ञान को जानता है।' सचमुच, अज्ञान को जानने वाला ही ज्ञान की दिशा में प्रस्थान कर सकता है। व्यावहारिक जीवन में ज्ञान का जितना महत्त्व होता है, आध्यात्मिक जीवन में उससे कहीं अधिक महत्त्व होता है। जीवन के प्रत्येक पहलू को आलोकित करने के लिए ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट है। ज्ञान, चेतना का अभिन्न मित्र है। जहां-जहां चेतना का प्रकाश है वहां-वहां ज्ञान की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हां, ज्ञान में तरतमता हो सकती है। किसी के पास बहुत कम ज्ञान होता है तो किसी के पास केवलज्ञान भी हो सकता है। ज्ञान, जीव की समस्त अवस्थाओं सिद्ध–संसारी, सुप्त–जागृत, विकसित–अविकसित आदि सभी में विद्यमान रहता है।

प्रश्न हो सकता है, ज्ञान किसे मानें? मूलाचार में बताया गया–

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मेत्ती पभावेज्ज, तं नाणं जिणसासणे।।

जिसके द्वारा राग से विरक्ति हो, श्रेयस में अनुरक्ति हो और मैत्री भाव की प्रवृत्ति हो। जिनशासन में उसे ज्ञान कहा गया है। जिस ज्ञान से आत्मा का हित हो, उसे महत्त्व दिया जाना चाहिए।

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान के अनेक प्रकार हो सकते हैं। एक वर्गीकरण है–इंद्रिय-सापेक्ष ज्ञान और इंद्रिय-निरपेक्ष ज्ञान। इंद्रिय-सापेक्ष ज्ञान में इंद्रियों के माध्यम से ज्ञान होता है। इंद्रियों के दो काम हैं–ज्ञान और भोग। जो ज्ञान सीधा आत्मा से होता है, उसे आत्म-सापेक्ष या इंद्रिय-निरपेक्ष ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान में किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं रहती। इसके तीन भेद किए जा सकते हैं–अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। इस अतीन्द्रिय ज्ञान से सूक्ष्मतम पदार्थों को भी बिना आंख के देखा जा सकता है। बहुत दूरी से भी जाना जा सकता है। इसमें दूरी, दीवार, आवरण, तिमिर आदि कोई बाधक नहीं बनते। अवधिज्ञानी सूक्ष्मतम पदार्थों को जान सकता है। मनःपर्यवज्ञानी दूसरों की विचारधारा को जान सकता है और केवलज्ञानी तो तमाम रूपी-अरूपी, जड़-चेतन को जान सकता है, देख सकता है और समझ सकता है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव सभी को अतीन्द्रिय ज्ञान हो सकता है किंतु मनुष्य को जितना बड़ा और विस्तृत अतीन्द्रिय ज्ञान हो सकता है उतना बड़ा किसी दूसरे को नहीं।

संसार में ऐसे अनेक प्रतिभाशाली व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने ज्ञान के बल पर अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। साधारण और प्रतिभाशाली व्यक्ति में यही

अंतर होता है—एक बाहरी आकर्षणों में खोया रहता है, दूसरा आंतरिक यथार्थ में। एक भोग-विलास में प्रवृत्त रहता है, दूसरा ज्ञान-आराधना में। एक पदार्थों पर आश्रित रहता है, दूसरा आत्मा पर।

जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान की पराकाष्ठा है केवलज्ञान। केवलज्ञानी नियमतः उत्कृष्ट चारित्र (यथाख्यात चारित्र) का स्वामी होता है। केवलज्ञान का अभिप्राय है आत्मोपलब्धि होना। आत्म-उपलब्धि का अभियान जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण अभियान है। इससे बड़ी कोई चोटी नहीं, जिस पर आदमी कभी चढ़ा हो। इससे अधिक कोई गहराई नहीं, जिसमें मनुष्य ने कभी डुबकी लगाई हो। आत्म-दर्शन ही सबसे बड़ी गहराई है और आत्मदर्शन ही सबसे बड़ी ऊंचाई है। अपेक्षा है व्यक्ति अपनी शक्ति को पहचानें और उसका सदुपयोग करें।

१३

श्रेय

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–**'जं छेयं तं समायरे।'** अर्थात् जो श्रेय है, उसका आचरण करो। प्रायः दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है–प्रेय और श्रेय। तात्कालिक रूप में आदमी को प्रेय अच्छा लगता है परंतु जो व्यक्ति अपना दीर्घकालिक हित चाहता है, शाश्वत हित चाहता है, उसे श्रेय पर ध्यान देना चाहिए। आदमी यह चिंतन करे कि मेरा हित किसमें है? समाज का हित किसमें है? देश और मानव जाति का हित किसमें है? जिसमें हित है मुझे उस दिशा में काम करना है। काम करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। आदमी को अपनी शक्ति का अहसास करना चाहिए, शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए और शक्ति का अच्छे कार्य में प्रयोग करना चाहिए। आदमी के मन में कार्य करने की भावना हो, सेवा की भावना हो, पर-कल्याण की भावना हो किंतु उसके साथ नाम-ख्याति की भावना का प्राधान्य नहीं होना चाहिए। जो व्यक्ति नाम-ख्याति के लिए काम करते हैं, वे मध्यम कोटि के होते हैं। जो व्यक्ति नाम-ख्याति तो पाना चाहते हैं किंतु काम करना नहीं चाहते, उन्हें मैं अधम कोटि का आदमी मानता हूं। उत्तम कोटि का इन्सान वह होता है, जिसमें नाम-ख्याति, यश और प्रशंसा की भूख नहीं रहती। वह तो अच्छा कार्य करना चाहता है। इस संदर्भ में मुझे विनोबाजी याद आ जाते हैं। हालांकि मैंने उनको अपनी आंखों से नहीं देखा किंतु यत्किंचित् उनके बारे में पढ़ा जरूर है।

विनोबाजी की एक आदत थी कि उनके पास कोई पत्र आता तो वे उसे

संभालकर रखते और उसका उत्तर भी दिया करते थे। एक दिन उनके पास एक पत्र आया। उन्होंने उस पत्र को पढ़ा और फाड़ दिया। उस समय श्री कमलनयन बजाज उनके पास बैठे थे। उन्होंने देखा कि आज विनोबाजी ने अपनी आदत के विपरीत आचरण कैसे कर लिया? पत्र को फाड़ कैसे दिया? श्री बजाज से रहा नहीं गया। उन्होंने उस फटे हुए पत्र को संयोजित किया और उसे पढ़ा। वह पत्र गांधी द्वारा संप्रेषित था और विनोबाजी की प्रशंसा से भरा था। श्री बजाज ने कहा—मान्यवर! आपने इस महत्त्वपूर्ण पत्र को कैसे फाड़ दिया? विनोबाजी ने जो उत्तर दिया, वह हृदय को छूने वाला था। उन्होंने कहा—बजाज! यह पत्र मेरे लिए बेकार है। महात्मा गांधी ने अपनी विशाल दृष्टि से और मेरे प्रति प्रेमभाव रखने के कारण प्रशंसा-भरा पत्र लिख दिया किंतु मेरे में कमियां कितनी हैं, उन्हें मैं जानता हूं। अगर मुझे कोई मेरी कमी बताता तो मैं उसका परिमार्जन करने का प्रयास करता। कितनी महानता से परिपूर्ण उत्तर था। हर आदमी में यह महानता जागृत हो जाए कि मुझे नाम-ख्याति के लिए नहीं, अपने हित के लिए, समाज और देश के हित के लिए, पर-कल्याण के लिए कार्य करना है। दो शब्द बड़ा साम्य रखते हैं—परोपकार और परापकार। जो व्यक्ति दूसरों का हित करता है, कल्याण करता है, वह परोपकार का जीवन जीता है। जो व्यक्ति दूसरों का अहित करता है, अनिष्ट करता है, वह परापकार का जीवन जीता है। वे व्यक्ति महान् होते हैं, जो किसी का अहित तो करते ही नहीं हैं अपितु दूसरों की भलाई के लिए स्वयं कष्ट झेलने के लिए तत्पर रहते हैं। जो दूसरों का कल्याण करते हैं, उनका अपना कल्याण तो स्वतः ही हो जाता है क्योंकि पर-कल्याण का कार्य भी आत्म-कल्याण का हेतु बनता है।

आर्षवाणी में सुन्दर निर्देश दिया गया कि जो श्रेयस्कर है, उसका आचरण करो। श्रेय के पथ पर आगे बढ़ने वाला व्यक्ति परम स्थिति को, परम गति को प्राप्त कर सकता है। श्रेय का आचरण करने वाला व्यक्ति सुख और शांति को प्राप्त कर सकता है, अपने जीवन को सुफल बना सकता है और दूसरों के लिए भी उपयोगी और श्रद्धेय सिद्ध हो सकता है।

१४

मित्र कौन ?

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–**'पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?'** पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर मित्र क्यों खोजता है? स्कूल में विद्यार्थी अपने मित्र बनाते हैं। युवक भी अपने मित्र बनाते हैं और बुढ़ापे में भी लोग अपने मित्र बनाते हैं।

महामात्य चाणक्य ने सच्ची मित्रता को जीवन का सबसे बड़ा संबल माना है। जहां मित्रता होती है, वहां एक दूसरे को मन की बात बताई जा सकती है। व्यक्तिगत समस्याएं खुलकर कही जा सकती है, एक-दूसरे के हित की चिंता की जाती है। संस्कृत साहित्य में बताया गया है–

ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव, षड्विधं मित्रलक्षणम्।।

मित्र को कोई वस्तु दी जा सकती है और कभी बिना पूछे ली जा सकती है। उसे गोपनीय बात भी बताई जा सकती है और उससे बात पूछी भी जा सकती है। उसे भोजन कराया भी जा सकता है और किया भी जा सकता है। जीवन में मित्रता का बहुत महत्त्व होता है।

विश्व के जाने-माने धनकुबेर अमेरिका के हेनरी फोर्ड जब अपनी कीर्ति और कमाई की चोटी पर पहुंच गए तब एक पत्रकार ने उनसे पूछा–महोदय! आपने अपने जीवन में प्रचुर मात्रा में धन के साथ-साथ यश और गौरव भी कमाया है। अब तो आपको अपने जीवन में कोई कमी अनुभव नहीं होती होगी? हेनरी फोर्ड ने कहा–'यह ठीक है कि मैंने पर्याप्त धन एवं प्रतिष्ठा कमाई

किन्तु मैं ऐसा महसूस करता हूं कि मेरा कोई सच्चा मित्र नहीं रहा। यदि मुझे फिर से जीवन शुरू करना पड़े तो मैं मित्रों की तलाश करूंगा, इसके लिए भले ही मुझे अपना सारा धन लगाना पड़े।

प्रश्न हो सकता है कि मैत्री का संबंध कैसे स्थापित किया जा सकता है? मैत्री का मुख्य आधारभूत तत्त्व है—एक-दूसरे का भला करना। जब दूसरों का भला करते हैं तब दूसरों के मित्र बन जाते हैं और जब हम अपना हित करने लगते हैं तब हम अपने मित्र बन जाते हैं। मित्रता के लिए जरूरी है आदमी अच्छा आचरण करे, अच्छी भाषा बोले, भाव शुद्ध रखे और अच्छा व्यवहार करे। जहां आदमी समूह में जीता है, वहां व्यवहार आवश्यक है। दो व्यक्ति होते हैं, वहां भी व्यवहार चलता है। सामूहिक जीवन में आत्मीयतापूर्ण, पवित्रतापूर्ण, मधुरतापूर्ण और विनम्रतापूर्ण व्यवहार हो तो मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हो सकता है।

शास्त्रकारों ने कहा—दूसरों को मित्र बनाने से पहले अपने आपको मित्र बनाओ। स्वयं, स्वयं के मित्र बन जाओ, फिर दूसरों को मित्र बनाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। जैसे एक मित्र दूसरे मित्र से बात पूछता है और उसका उत्तर ध्यान से सुनता है वैसे ही व्यक्ति अपने आप से पूछे और उत्तर ध्यानपूर्वक सुने। अपनी आवाज को सुनने वाला, अपने आपको देखने वाला, अपना हित चाहने वाला व्यक्ति अपना मित्र होता है। स्वयं के साथ मित्रता करने वाला व्यक्ति दूसरों के साथ भी गलत व्यवहार नहीं करता। वह न कटुभाषा का प्रयोग करता है, न शरीर से अनिष्ट करता है और न ही बुरे विचार लाता है। वह महान आध्यात्मिक व्यक्ति होता है जो स्वयं को स्वयं का पक्का और सच्चा मित्र बना लेता है।

१५

वीर कौन ?

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'जागर-वेरोवरए वीरे'** जो जागृत है, वैर से उपरत है, वह वीर है। जो पुरुष सुप्त होता है वह कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं कर सकता। उसके अभाव में वह वीर नहीं हो सकता और जो जीवों के प्रति शत्रुता का भाव रखता है, वह भी वीर नहीं हो सकता। क्योंकि वह प्रतिकूलता को सहन करने में अक्षम होता है।

सुप्त पुरुष दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-सुप्त और भाव-सुप्त। द्रव्य-सुप्त वह होता है जो निद्रा में सोया रहता है। भाव-सुप्त वह होता है जो हिंसा और परिग्रह में प्रवृत्त रहता है। विषय अथवा कषायों के वशीभूत होकर धर्म के प्रति सुप्त रहता है। इसी प्रकार जागृत पुरुष के भी दो प्रकार हैं—द्रव्य-जागृत और भाव-जागृत। द्रव्य जागृत वह होता है जो निद्रा से मुक्त रहता है। भाव-जागृत वह होता है जो अहिंसा और अपरिग्रह में लीन रहता है तथा धर्म के प्रति उत्साह रखता है।

जागरह णरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवइ ण सो धन्नो, जो जग्गई सो सया धन्नो।।

जो आदमी सदा जागता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है और वह धन्य होता है। जो सोता है वह खोता है। जो जागता है वह पाता है। शरीरशास्त्रियों के अनुसार नींद लेना भी जरूरी होता है। ज्यादा लंबे समय तक नींद न लेने से शारीरिक कठिनाई पैदा हो सकती है किंतु आदमी मूर्च्छा को तोड़े। जीवन में अप्रमाद को स्थान दे। जो क्रिया की जाए वह भावक्रिया पूर्वक की जाए तो

जागरूक रहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य में यह उक्ति कही जाती है—**'नास्ति जागरिते भयम्'** जागने वाले को भय नहीं होता और जिसको किसी से भय नहीं होता, वही वास्तव में वीर होता है।

वीर पुरुष वैर से उपरत रहता है। सामान्य आदमी जहां राग-द्वेष में, अपने-पराए में उलझा रहता है वहीं वीर पुरुष दूसरों की भलाई करने में, निःस्वार्थ भाव से सेवा करने में लगा रहता है। उसका आदर्श वाक्य हो सकता है—**'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।'** वीर पुरुष किसी को कष्ट नहीं देता। स्वयं कष्ट झेलकर भी दूसरों का कभी अहित नहीं करता, सबके हित की बात सोचता है। महात्माजी प्रतिदिन सवेरे भ्रमण करने जाते थे। रास्ते में एक झोंपड़ी थी। महात्माजी जैसे ही झोंपड़ी के पास से गुजरते, एक आदमी उन पर कूड़ा-करकट डाल देता। महात्माजी शांत-भाव से कपड़े झाड़ लेते और आगे चल जाते। लंबे समय तक यह क्रम चलता रहा। एक दिन महात्माजी ने देखा कि आज कूड़ा-करकट गिराया नहीं, क्या बात है? झोंपड़ी के अन्दर गए तो देखा कि उस आदमी को तो तेज बुखार है। संत का हृदय द्रवित हो गया। उसका ईलाज कराया। उसकी सेवा की। कुछ दिनों में वह व्यक्ति स्वस्थ हो गया। अब उसके हाथ में कूड़े के स्थान पर गुलदस्ता था। आदमी का मन ग्लानि से भर गया, सोचा—कहां मैं अधमाधम आदमी और कहां ये धरती के शृंगार पुरुष? महात्माजी के जीवन-व्यवहार से उसने मैत्री का पाठ पढ़ लिया। उसे एक नया दिशाबोध मिल गया।

आदमी यह संकल्प करे कि **'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ'** सब प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, किसी के साथ वैरभाव नहीं है।

आदमी सदा जागरूक रहे और वैर से उपरत रहे तो स्वयं वीर बन सकता है और दूसरों के लिए भी वीरता का पथ प्रशस्त कर सकता है।

१६

अभयदान

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।'** दुनिया में अनेक प्रकार के दान दिए जाते हैं। अन्नदान, जलदान, वस्त्रदान, नेत्रदान, अर्थदान एवं अन्य अनेक प्रकार के दान दिए जा सकते हैं। प्रश्न होता है, इन सबमें श्रेष्ठ दान कौन सा है? आर्षवाणी में कहा गया, 'अभयप्पयाणं' अभयदान सबसे बड़ा दान है। किसी ने भोजन दे दिया किंतु सामने वाला व्यक्ति यदि भयभीत है तो वह उसे कितना पुष्ट कर पाएगा? किसी ने पानी पिला दिया किंतु सामने वाला भयभीत है तो वह पानी उसे कितना तृप्त कर सकेगा?

महारानी अपने दो राजकुमारों के साथ महल में बैठी थी। तीनों नीचे की ओर झांक रहे थे। उन्होंने एक दृश्य देखा। पुलिस कर्मचारी एक अपराधी को पकड़कर ले जा रहे थे। पूछताछ के बाद पता चला कि उसको फांसी की सजा मिलने वाली है। महारानी को दया आ गई कि बेचारा एक बार गलती करने मात्र से मारा जाएगा। इस बार इसकी गलती को माफ कर देना चाहिए। महारानी ने अपराधी को ऊपर बुला लिया। बड़े राजकुमार से कहा—यह अपराधी है। इसे फांसी की सजा मिलने वाली है। तुम इसे क्या दे सकते हो? बड़े राजकुमार ने कहा—मैं इसे बहुत स्वादिष्ट और पौष्टिक भोजन करा सकता हूं। फिर महारानी ने छोटे राजकुमार से पूछा—बोलो, तुम इसे क्या दे सकते हो? उसने कहा—मैं पिताजी से निवेदन कर इसे अभयदान दिला सकता हूं। अपराधी से पूछा गया, बड़ा राजकुमार तुम्हें बढ़िया भोजन करा सकता है और छोटा

राजकुमार तुम्हें जीवनदान/अभयदान दे सकता है, तुम किसे स्वीकार करोगे? अपराधी ने कहा—महारानीजी! मुझे तो मौत सामने दीख रही है। मुझे भोजन नहीं, अभयदान चाहिए। छोटे राजकुमार ने अपने पिता से निवेदन कर उसको फांसी की सजा से मुक्त करा दिया। उसे अभयदान दे दिया। इस दान के सामने भोजन, वस्त्र, मकान आदि अन्य सभी दान बौने प्रतीत होते है।

जहां हिंसा है, आतंक है, वहां भय का माहौल बन जाता है। सिंह भय के कारण भाग रहा है कि कहीं काले माथे वाला आदमी मुझे मार न डाले। आदमी इस भय से भाग रहा है कि सिंह मुझे खा न जाए। आज संसार की भी यही स्थिति हो रही है। एक प्राणी दूसरे प्राणी से डर रहा है। आदमी, आदमी से डर रहा है। भय का भूत जब मनुष्य के सिर पर सवार हो जाता है तब वह अपने आपको विस्मृत कर देता है, सुरक्षित नहीं रख पाता। सामान्यतया आदमी जीवन का अवसान होने पर एक बार ही मरता है किंतु भयभीत आदमी तो एक दिन में भी न जाने कितनी बार मरता है। जहां भय होता है वहां अध्यात्म नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने प्रति जागरूक नहीं रहता, प्रमाद में लगा रहता है, उसको पग-पग पर भय का सामना करना पड़ता है।

आदमी के जीवन में जितना प्रमाद होता है। वह उतना ही असफल होता है और जितना अप्रमाद होता है उतना सफल होता है। कभी-कभी थोड़ा सा प्रमाद भी मौत से ज्यादा भयंकर हो जाता है। प्रमाद भय है, दोष है और आत्मा का शत्रु है। प्रमाद जहां भय का कारण बनता है, अप्रमाद आदमी को अभय की ओर ले जाता है। अभय वहां होता है जहां अहिंसा का वातावरण होता है, शांति का माहौल होता है। आदमी स्वयं अभय बने और दूसरों को भी भयमुक्त बनाए तो सुख और शांतिपूर्ण जीवन जी सकता है।

१७

प्रसन्नता

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'महप्पसाया इसिणो हवंति, न हु मुणी कोवपरा हवंति।'** ऋषि मुनि महान प्रसाद वाले होते हैं, वे कभी गुस्सा नहीं करते। आदमी के जीवन की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है—सतत सहज प्रसन्नता। आदमी सदा प्रसन्न रहे। उसके मन में कभी दुःख का भाव न आये।

आदमी की यह कमजोरी है कि वह प्रतिकूलता आने पर दुःखी हो जाता है और अनुकूलता मिलने पर खुश हो जाता है। इस प्रकार कभी हर्ष और कभी शोक की स्थिति में आदमी सतत प्रसन्न नहीं रह सकता। श्रीमद् भागवद्गीता में कहा गया—

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

जो व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष में राग नहीं करता, स्नेह नहीं करता, अनुकूलता को प्राप्त कर खुश नहीं होता और प्रतिकूलता को प्राप्त कर दुःखी नहीं होता, राग-द्वेष नहीं करता, वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। जो स्थितप्रज्ञ होता है, वह सहज, सतत प्रसन्न रह सकता है। हर स्थिति व्यक्ति के अनुकूल बन जाये, यह संभव नहीं। इसलिए आदमी परिस्थिति के साथ इस प्रकार सामंजस्य बिठाना सीख ले कि वह उसे बाधित न कर सके।

राजा नंगे पैर चल रहा था। अचानक पैर में कांटा चुभ गया। राजा ने

सोचा—न जाने कितने लोग नंगे पैर चलते होंगे, कितनों को कांटे चुभते होंगे, उन्हें कितनी तकलीफ होती होगी? भूपति ने मंत्री को निर्देश दिया कि हमारे राज्य में जितना भूभाग है, उस पर चमड़ा मंढ़ा दिया जाये ताकि किसी भी आदमी के कांटा न चुभे। मंत्री ने निवेदन किया—महाराज! यदि सम्पूर्ण पृथ्वी पर चमड़ा मंढ़ दिया जायेगा तो अनाज पैदा कैसे होगा? लोग भूखे मरेंगे या फिर अनाज का आयात करना होगा। इसलिए महाराज! आपका अभीष्ट तो यही है कि किसी के कांटा न चुभे। एतदर्थ मैं सरकार की ओर से प्रत्येक व्यक्ति को चमड़े के जूते दिलवा दूंगा, जिनको पहनने से कांटे नहीं चुभेंगे।

यदि आदमी के पास समता का त्राण आ जाये तो दुःख के कांटे नहीं चुभ सकते। यदि समता का सुरक्षा कवच पास में है तो कोई भी परिस्थिति आदमी को दुःखी नहीं बना सकती। आदमी की प्रसन्नता को बनाए रखने के लिए जरूरी है कि जो बात हो चुकी, उसके लिए अनुताप न करे। दो बातें हैं—करना और होना। किसी भी कार्य को करने से पहले चिंतन-मनन करना चाहिए, विवेकपूर्वक और सोच-समझकर निर्णय करना चाहिए किंतु कार्य संपन्नता के बाद 'जो हुआ सो अच्छे के लिए हुआ' मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। करने और होने में बहुत अंतर है। एक उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है, जैसे—एक व्यापारी जब व्यापार शुरू करता है तब पहले सोचता है कि मैं व्यापार कहां करूं? किस चीज का करूं? किस प्रकार के व्यापार से मुझे ज्यादा लाभ हो सकता है आदि-आदि। काम करने से पहले सोचना उचित है। आदमी को सोचकर ही काम करना चाहिए। करने के बाद जो घाटा/नफा होता है, उसे सहजता से स्वीकार भी कर लेना चाहिए। सोचकर करना और करने के बाद सोचना, दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। जो आदमी करने में विवेक रखता है और होने को सहज स्वीकार कर लेता है, वह व्यक्ति हर घटना प्रसंग में प्रसन्न रह सकता है।

आयारो में एक सुन्दर सूक्त मिलता है—

'का अरइ के आणंदे, एत्थंपि अग्गहे चरे।'

क्या अरति और क्या आनंद, हर किसी बात को ग्रहण नहीं करना चाहिए। जब आदमी घटना के साथ जुड़ जाता है, उसे ग्रहण कर लेता है, तब वह हर्षित या खिन्न होता है। जब घटना को मात्र ज्ञाताद्रष्टा भाव से देखा

जाता है, तब आदमी दुःखी नहीं बनता। पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ फरमाया करते हैं—समस्या और दुःख एक नहीं हैं। जीवन में समस्या आना अलग चीज है उससे दुःखी बन जाना अलग चीज है। आदमी समस्या को देखना सीख ले किंतु उसके साथ जुड़े नहीं। ज्ञाता-द्रष्टा भाव के अभ्यास से व्यक्ति सुखी और प्रसन्न रह सकता है।

१८

व्यवहार का संचालक : भाव जगत

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'अग्गं च मूलं च विगिञ्च धीरे'** अग्र और मूल दोनों को देखे। आदमी के जीवन में अनेक समस्याएं आती हैं। उन समस्याओं के मूल तक पहुंचने वाला व्यक्ति ठीक समाधान कर सकता है। जब तक व्यक्ति केवल ऊपरी भाग को देखता है, भीतर तक पहुंचने का प्रयास नहीं करता, तब तक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। प्राकृत श्लोक—युग्म में दो प्रकार की वृत्तियां बताई जाती है—

पत्थरेणाहतो कीबो, खिप्पं डसइ पत्थरं।
मिगारी उ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं व मग्गति।।
तहा बालो दुही वत्थुं, बाहिरं णिंदती भिसं।
दुक्खुप्पत्ति-विणासं तु, मिगारिव्व ण पप्पति।।

एक श्वानी वृत्ति होती है। दूसरी सैंही वृत्ति होती है। यदि एक कुत्ते की ओर पत्थर फेंका जाता है तो वह उस पत्थर को चाटने लग जाता है। पत्थर किसने फेंका, उस ओर ध्यान नहीं देता। यदि एक शेर की तरफ बाण छोड़ा जाता है तो वह उस बाण को नहीं देखता। बाण किसने फेंका, उस ओर ध्यान ज्यादा देता है। अर्थात् श्वानी वृत्ति वाला व्यक्ति ऊपरी सतह तक ही रह जाता है और सिंह वृत्ति वाला व्यक्ति मूल तक पहुंच जाता है।

एक बार महाराज शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास यात्रा कर रहे थे। रास्ते में ईख के खेत आए। उन्होंने तीन-चार ईख तोड़ लिए। खेत के मालिक ने गुरु रामदास की पिटाई की। जब यह बात शिवाजी के पास पहुंची तो उन्होंने उस

किसान को बुलाया और कहा—तुमने मेरे गुरु को पीटकर बहुत बड़ा अपराध किया है इसलिए तुमको फांसी की सजा दी जाती है। गुरु रामदास ने कहा—शिवा! ऐसा नहीं हो सकता। तुम इसको दंड नहीं दे सकते। इसने मुझको मारा है इसलिए दंड भी मैं ही दूंगा। शिवाजी मौन हो गए। समर्थ गुरु रामदास ने कहा—इस किसान को अपराध के फलस्वरूप पांच बीघा जमीन दान में दी जाए। शिवाजी इस बात को सुनकर अवाक् रह गए। पीटने वाले को दंड रूप पांच बीघा जमीन का दान। यह कैसा दंड? गुरु रामदास ने रहस्य को समझाते हुए कहा—शिवा! यह किसान गरीब है। यदि यह गरीब नहीं होता तो ऐसा व्यवहार कभी नहीं करता। इसकी अपराध वृत्ति को मिटना है तो इसकी गरीबी को मिटाना होगा। मूल कारण की खोज किए बिना समस्या का कभी समाधान नहीं हो सकता।

सामान्यतया इस दृश्य दुनिया में आदमी के व्यवहार को देखा जाता है किंतु व्यवहार का मूल कारण बनता है भाव। व्यक्ति के भीतर भी एक जगत् है जिसे भाव जगत् कहा जाता है। उसमें विभिन्न तरह के भाव होते हैं, क्षमा का भाव होता है तो आक्रोश का भाव भी होता है, अहंकार है तो नम्रता भी है। इन भावों से ही आदमी का व्यवहार प्रभावित होता है। जब क्षमा का भाव उजागर होता है तो आदमी बिलकुल शांत दिखाई देता है और जब आक्रोश का भाव प्रबल बन जाता है तो वह शांत दिखने वाला व्यक्ति भी अशांत बन जाता है। आदमी के व्यवहार का संचालक है भाव जगत। इसलिए उस पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। यदि एक बस में पचास आदमी बैठे हैं और वे सभी अंधे हैं किंतु डाईवर चक्षुष्मान है, दक्ष है तो उन पचासों व्यक्तियों को ठीक समय पर गंतव्य स्थान तक ले जा सकता है। इसी प्रकार आदमी के भाव ठीक हों तो व्यवहार अच्छा बन सकता है। भावों को पकड़े बिना समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

११

वैचारिक और व्यावहारिक गांभीर्य

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'सागरवर-गंभीरा'**। सिद्ध सागर के समान गंभीर होते हैं। गंभीर के लिए समुद्र की उपमा दी जाती है। क्योंकि उसमें गहराई होती है। पर्वत में ऊंचाई होती है, गहराई नहीं होती। सागर में गहराई होती है, ऊंचाई नहीं होती। किंतु मनस्वी व्यक्ति में गहराई और ऊंचाई दोनों होती है। महापुरुष में अनेक गुण होते हैं। उन अनेक गुणों में एक गुण है—गंभीरता। जिसमें छिछलापन होता है। वह सतह पर ही रहता है। वह कभी महान नहीं हो सकता। हमारी दुनिया में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जिनमें गंभीरता नहीं होती। कोई व्यक्ति गोपनीय बात को सुन कर सबके सामने प्रकट कर देता है तो समझना चाहिए कि अभी गंभीरता में कमी है। समुद्र में कितनी गंभीरता होती है। यदि उसमें एक चट्टान भी डाल दी जाए तो वह उसे भी समाविष्ट कर लेता है। किंतु घड़े पर यदि एक कंकर भी फेंका जाता है तो वह घड़े को नष्ट कर सकता है। समुद्र में जहां गंभीरता का प्रभाव दिखाई देता है, घड़े में उसका अभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार अगंभीर व्यक्ति के लिए एक बात को भी पचाना मुश्किल होता है जबकि गंभीर व्यक्ति से एक बात निकलवाना मुश्किल होता है।

आदमी में दो प्रकार की गंभीरता होनी चाहिए— वैचारिक गंभीरता और व्यावहारिक गंभीरता।

वैचारिक गंभीरता

आदमी जिस विषय का अध्ययन करे, उसके शब्द, अर्थ और भाव को

जानने का प्रयास करे। जो व्यक्ति केवल शब्दों तक ही रह जाता है, वह अर्थात्मा तक नहीं पहुंच पाता और अर्थात्मा तक पहुंचे बिना मूल को पकड़ा नहीं जा सकता। मूल को पकड़े बिना गहराई नहीं आ सकती। जड़ को सींचे बिना वृक्ष को हरा-भरा नहीं रखा जा सकता। समस्या की तलहटी तक पहुंचे बिना समाधान के शिखर पर आरोहण नहीं किया जा सकता।

हमारे धर्मसंघ में एक संत हुए हैं—मुनिश्री मगनलालजी। आचार्यश्री तुलसी ने उनको अपने मंत्री के रूप में स्वीकार किया था। उनमें बहुत गंभीरता थी। वे सुनते ज्यादा और बोलते कम थे। वे काफी सूझबूझपूर्ण बातें कहते और गहरा चिंतन प्रस्तुत करते थे। हर आदमी के लिए उतनी गंभीरता संभव न भी हो किंतु जो व्यक्ति कुछ पढ़े-लिखे है, चिंतनशील है, वे दर्शन की गहराई में जाएं, तत्त्व की गहराई में जाएं तो एक नया बोध, नया प्रकाश प्राप्त हो सकता है। प्राचीन साहित्य में बताया गया—पदार्थ, वाक्यार्थ, महावाक्यार्थ और ऐदमपर्यायार्थ अर्थात् किस बात का क्या तात्पर्य है? जब यह सब जान लिया जाए तो पूर्णता की स्थिति प्राप्त हो सकती है। जिस व्यक्ति में चिंतन की गंभीरता नहीं होती, वैचारिक गंभीरता नहीं होती, वह अधिक विकास नहीं कर सकता।

व्यावहारिक गंभीरता

एक व्यक्ति कार से कहीं जा रहा था। रास्ते में अचानक कार खराब हो गई। ड्राईवर ने आस-पास देखा। थोड़ी दूर पर एक आदमी बैठा था। बातचीत से पता चला कि वह मिस्त्री है। ड्राईवर ने कार ठीक करने के लिए अनुरोध किया। मिस्त्री ने पूछा— पारिश्रमिक क्या दोगे?

ड्राईवर—तुम कितना लोगे?

मिस्त्री—सौ रुपये।

ड्राईवर ने शर्त स्वीकार कर ली। मिस्त्री ने कार को ध्यान से देखा। फिर हथौड़ा उठाया और एक चोट की। तत्काल कार स्टार्ट हो गई। ड्राईवर ने कहा—भैया! तुमने मात्र एक चोट की और सौ रुपये ले लिए। क्या यही तुम्हारी मानवीयता है? मिस्त्री ने जो उत्तर दिया, वह बहुत गंभीर था। उसने कहा—ड्राईवर महोदय! मैंने चोट लगाने का तो मात्र एक ही रुपया लिया है। शेष निन्यानवे रुपये तो इस बात के लिए हैं कि चोट कहां लगानी है।

चोट लगाना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात है चोट कहां लगाना? आदमी के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आते रहते हैं जिनमें बहुत कम लोग गहराई तक

पहुंच पाते हैं। अधिकतर लोग तो सतह पर ही रह जाते हैं। व्यवहार संपादित करने में भाषा का बहुत सहयोग होता है। व्यवहार को बिगाड़ने और सुधारने में भाषा बहुत बड़ा निमित्त बनती है। जो व्यक्ति अधिक बोलता है, अशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है, अयथार्थ, एवं कटु बोलता है और बिना सोचे समझे बोलता है, वह अपने अगांभीर्य को प्रकट करता है। किस व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करना और किसके साथ कैसा व्यावहार नहीं करना, जो व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह जान लेता है और तदनुरूप ही व्यवहार करता है, वह अपनी व्यावहारिक गंभीरता को प्रकट करता है।

आदमी अपने जीवन में वैचारिक गंभीरता और व्यावहारिक गंभीरता का विकास करे ताकि वर्तमान जीवन को अच्छा जी सके और भविष्य को भी सार्थक व सफल बना सके।

२०

अनुशासन का पहरा

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं'** स्वच्छंदता का निरोध करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति स्वयं पर अपना अनुशासन नहीं कर सकता और न ही अपने स्वामी के अनुशासन में रह सकता है वह दुःख मुक्त कैसे बन सकता है? दुःख-मुक्ति और समस्या-मुक्ति के लिए व्यक्ति को स्वच्छंदता पर कंट्रोल करना होगा। मर्यादा और अनुशासन स्वच्छंदता को नियंत्रित करने वाले तत्त्व हैं। जहां सामूहिक जीवन होता है, वहां इन दोनों की अनिवार्यता होती है। मुगल सम्राट बाबर जब गद्दी पर बैठे तो उनकी सवारी निकाली गई। उन्हें हाथी पर बिठाया गया। हाथी पर बैठते ही उन्होंने कहा—लगाम मुझे दो। किसी व्यक्ति ने समझाया कि हाथी की लगाम नहीं होती, अंकुश होता है। चूंकि इससे पहले बाबर कभी हाथी पर नहीं बैठे थे। वे घोड़े की सवारी किया करते थे। बाबर ने कहा—तो अंकुश मुझे दे दो। उन्हें बताया गया कि अंकुश तो महावत रखता है। बाबर ने तत्काल कहा—मुझे ऐसी सवारी नहीं निकालनी जिसकी बागडोर किसी दूसरे के हाथ में रहे। यह स्वच्छंदता से स्वतंत्रता की ओर प्रस्थान ही आत्मानुशासन है।

तेरापंथ धर्मसंघ में प्रारंभ से ही अनुशासन और मर्यादा निष्ठा के संस्कार दिए जाते रहे हैं। एक बार आचार्यश्री ने प्रश्न किया था कि मर्यादा, मर्यादा-निर्माता और मर्यादा-पालक, इन तीनों में बड़ा कौन होता है? फिर आचार्यश्री ने ही फरमाया कि मर्यादा का होना बहुत अच्छी बात है। मर्यादा के निर्माता भी महान हो सकते हैं किंतु मर्यादा को पालने वाला सबसे महान/बड़ा होता

है। संघ या व्यक्ति का विकास मात्र मर्यादाओं के निर्माण से नहीं होता, उनके पालन से होता है। मर्यादाएं यदि स्वर्णाक्षर में लिखी हुई हों किंतु कोई पालने वाला नहीं हो तो विकास कैसे होगा? साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं का कर्तव्य है कि वे मर्यादा के प्रति, अपने आचार के प्रति जागरूक रहें। मोक्ष को प्राप्त करने का इच्छुक साधक विनययुक्त व्यवहार करे। वह गुरु के मृदु व कोमल वचनों से किए जाने वाले अनुशासन को हितकर मानकर स्वीकार करे। प्राचीन व्याख्या साहित्य में एक कथानक मिलता है।

एक वयोवृद्ध आचार्य ने चिंतन किया कि अब मुझे उत्तराधिकार की व्यवस्था कर देनी चाहिए। आचार्य का परम कर्तव्य होता है कि वे अपने उत्तराधिकार की व्यवस्था का पूरा ध्यान रखें, जागरूक रहें और समय आने पर कार्य की क्रियान्विति भी करें। आचार्य ने साधु-संघ पर दृष्टिपात किया तो दो साधुओं पर दृष्टि केन्द्रित हुई। दोनों साधु बड़े तेजस्वी और योग्य थे। अब दोनों में से किसका मनोनयन किया जाए? आचार्य ने परीक्षण करने का निर्णय किया। उन्होंने एक बाल मुनि से कहा—तुम अमुक साधु के पास जाओ और उन्हें बताओ कि आचार्यश्री ने आपको याद किया है। उस समय मुनिजी अध्यापन कार्य में संलग्न थे। वे बिना मन गुरुदेव के पास आए और पूछा—इस समय ऐसा कौन सा कार्य हो गया जो मुझे अध्यापन कार्य के बीच में बुलाना पड़ा। आपको यह तो ध्यान रखना चाहिए था कि कब बुलाना और कब न बुलाना। खैर, अब बताओ, क्या काम है? आचार्यश्री ने कहा—कोई विशेष काम नहीं है। कल उपवास किया था। आज पारणा किया पर अभी तक मुंह साफ नहीं हुआ इसलिए तुम जाओ और केरी ले आओ। शिष्य ने तत्काल कहा—आप कैसी बात करते हैं। क्या साधु को केरी लाना कल्पता है? आचार्य ने कहा—वत्स! तुम जाओ और अपना काम करो। फिर आचार्य ने दूसरे शिष्य को याद किया। वह भी साधुओं को अध्यापन करा रहा था किंतु 'गुरुदेव ने याद किया है' यह संवाद मिलते ही वह तत्काल उठा और प्रसन्नता के साथ त्वरित गति से चलकर आचार्य के पास पहुंचा। वन्दन-नमस्कार कर पूछा—मेरे लिए क्या आदेश है? आचार्य ने वही बात दोहराई कि जाओ और केरी ले आओ। शिष्य ने निवेदन किया—गुरुदेव! कौनसी केरी लाऊं? केरी का मुरब्बा लाऊं या केरी का अचार लाऊं? गुरुदेव ने कहा—वत्स! तुम जाओ और अपना काम करो। आचार्य ने निर्णय कर लिया कि इस मुनि को ही धर्मसंघ का दायित्व सौंपना है क्योंकि यह विनीत है, अनुशासित है और मर्यादानिष्ठ है।

जो व्यक्ति प्रारंभ में ही स्वतंत्र रहना चाहता है वह कभी भी स्वतंत्र नहीं रह सकता। जो प्रारंभ में अनुशासन में रहना सीख लेता है वह एक दिन स्वतंत्रता को प्राप्त कर लेता है। जैसे-जैसे स्वच्छंदता कम होती है, स्वतंत्रता बढ़ती जाती है और व्यक्ति दुःख मुक्त बन जाता है।

२१

इंद्रिय-संयम

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**'अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो'** आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। मनुष्य का जीवन आत्मा और शरीर के संयोग से बना है। केवल मनुष्य का जीवन ही नहीं, प्राणी मात्र का जीवन—इन दो तत्त्वों के योग से ही बना है। इन दो के सिवाय पूरी दुनियां में तीसरा कोई तत्त्व नहीं है। सामान्यतया देखा जाता है कि आदमी शरीर का ज्यादा ध्यान रखता है। वह शरीर के लिए भोजन करता है, नींद लेता है, बीमार होने पर दवा लेता है, सर्दी-गर्मी से बचने का प्रयास करता है। उसका अधिकांश समय शरीर के इर्द-गिर्द ही बीत जाता है।

आदमी कुछ समय अपनी आत्मा के लिए भी लगाए। दशवैकालिक सूत्र की चूलिका में कहा गया— आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। इस उद्घोष के साथ ही प्रश्न उठा कि आत्मा की रक्षा क्यों करें? समाधान की भाषा में कहा गया—

अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चई।

अर्थात् अरक्षित आत्मा जाति-पथ यानी जन्म-मरण को प्राप्त होती है। संसार में परिभ्रमण करती रहती है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाती है। इसलिए व्यक्ति को दुःख मुक्ति के लिए आत्मा की रक्षा करनी चाहिए। फिर अगला प्रश्न हुआ कि रक्षा कैसे करें? क्या आत्मा की रक्षा के लिए लाठी, तलवार, भाला और कोई बड़ा अस्त्र-शस्त्र चाहिए, क्या मिसाइल चाहिए? शास्त्राकार ने कहा—नहीं, आत्म-रक्षा के लिए इनमें से

किसी की भी जरूरत नहीं है। **'सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं'** इंद्रियों को सुसमाहित रखो। उनमें असमाधि पैदा न हो। जब इंद्रियां संयमित होती है तब आत्म रक्षा अपने आप होने लगती है। इंद्रियों के व्यापार में राग-द्वेष न आए और इंद्रियों का अनावश्यक व्यापार भी न हो।

कानों में जब प्रशंसा भरे शब्द पड़ते हैं तो आदमी को प्रसन्नता होती है, खुशी होती है और जब उलाहनाभरे शब्द सुनने को मिलते हैं तो कष्ट होता है। अगर श्रोत्रेन्द्रिय का संयम है, अभ्यास पुष्ट है तो प्रशंसा में ज्यादा खुशी नहीं होगी और उलाहने से क्षोभ नहीं होगा। शांति बनी रहेगी।

पूज्य जयाचार्य लाडनूं में विराजमान थे। एक दिन युवाचार्यश्री मघवा व्याख्यान दे रहे थे। श्री जयाचार्य के कानों में कुछ शब्द पड़े। पार्श्वस्थित साध्वी गुलाबांजी, जो कि युवाचार्यश्री की संसारपक्षीय बहन थी, से कहा—तुम्हारा भाई तो व्याख्यान देना भी नहीं जानता। अब तुम जाओ और व्याख्यान दो। साध्वी गुलाबांजी के लिए समस्या हो गई। एक ओर तो गुरु का आदेश, दूसरी ओर स्वयं के संसारपक्षीय भाई को और उससे भी बड़ी बात कि संघ के युवाचार्य को उठाकर कोई साध्वी व्याख्यान दे, बहुत अटपटी सी बात लग रही थी। परंतु साध्वीजी व्यवहार कुशल थी। उन्होंने निवेदन किया—पूज्यप्रवर! बहुत दिनों से आपका व्याख्यान नहीं सुना। आज हम सब आपका व्याख्यान सुनना चाहते हैं। जयाचार्य ने निवेदन स्वीकार कर लिया और प्रवचन स्थल पर पधारे गये। पधारते ही जनता के सामने युवाचार्य मघवा को उपालंभ फरमाया। युवाचार्यश्री ने बड़े विनयभाव से उस उपालंभ को शिरोधार्य किया। व्याख्यान का कार्यक्रम संपन्न हो गया। दूसरे दिन पुनः जयाचार्य व्याख्यान में पधारे और जनता से कहा—देखा आपने हमारे युवाचार्यश्री को। मैंने कल इनको परिषद के बीच उपालंभ दिया। फिर भी इन्होंने कितने विनय भाव से उसे स्वीकार किया। यह विनय का गुण हमारे युवाचार्यश्री से सबको सीखना चाहिए।

जब व्यक्ति का इंद्रिय संयम सिद्ध हो जाता है तो कठोर शब्दों को भी सहा जा सकता है और प्रशंसा भरे शब्दों को भी शांत भाव से सहा जा सकता है। कठिनाई वहां होती है जहां आदमी में चंचलता होती है, पदार्थ जगत के प्रति आकर्षण होता है तब इंद्रिय संयम भी कठिन हो जाता है। जो साधक इंद्रियों के विषयों के प्रति विरक्त होता है उसे फिर राग-द्वेष नहीं सताते। आदमी अंतर्मुखी बनने का प्रयास करे। दुर्बलताओं को दूर करने का प्रयास करे।

कमजोरियों को दूर करने में अनेक आलंबन बन सकते हैं। व्यक्ति कोई ऐसा पुष्ट आलंबन स्वीकार करे, जो उसे दुर्गुणों से बचा सके। आदमी का लक्ष्य बन जाए कि मुझे अपने जीवन में सद्गुणों का विकास करना है। सद्गुण सम्पन्नता जीवन की एक महानतम उपलब्धि होती है। एक-एक कमजोरी हेय होती है, छोड़ने योग्य होती है। जैसे, आलस्य एक ऐसी कमजोरी है जो आदमी के विकास में बाधक बनता है और श्रम एक ऐसा सद्गुण है जो सफलता का द्वार खोलता है। वक्रता, छल-कपट, अयथार्थ भाषण आदि आत्मा को खतरे में डालने और पाप पंक में निमग्न करने वाले होते हैं। सरलता, ऋजुता आदि आत्मा को रक्षित करने वाली होती है। इसलिए आदमी को कुटिलता से मुक्त रहना चाहिए और सरलता को, सरल वृत्ति को स्वीकार करना चाहिए। संस्कृत भाषा में सुंदर कहा गया—

सरलगतिः सरलमतिः सरलशीलसंपन्नः।
सर्वं पश्यति सरलं, सरलः सरलेन भावेन।।

सरल आदमी के विचार में, व्यवहार में, आचार में सरलता झलकती है और कुटिल आदमी के चिंतन में, चलने में, व्यवहार में कुटिलता झलकती है। इसी प्रकार अनुशासन को स्वीकार करना जीवन का एक सद्गुण है और उच्छृंखल बन जाना, उद्दंड बन जाना जीवन का एक दुर्गुण है। जो व्यक्ति अनुशासन-निष्ठ होता है, वह आत्म-रक्षा की ओर आगे बढ़ता है। जो स्वेच्छाचारी होता है, वह अपनी आत्मा का नुकसान कर लेता है। अतः आदमी सुसमाहित रहता हुआ, इंद्रियों का संयम करता हुआ अपनी आत्मा की रक्षा करे और सब दुःखों से मुक्त बने।

२२

अध्यात्म विकास के सूत्र

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–**'सव्वेसिं जीवियं पियं।'** सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है। इसलिए किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो। अहिंसा की चेतना जगाने के लिए मैत्री का प्रयोग अपेक्षित होता है। जैन साहित्य में सोलह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन मिलता है। उनमें अंतिम चार अनुप्रेक्षाएं अहिंसा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य अमितगति ने 'परमात्म-द्वात्रिंशिका' में इन चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख करते हुए कहा है–

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव!

हे प्रभो! मेरे मन में सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखियों के प्रति करुणा भाव और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति मध्यस्थ भाव बना रहे। इन चार भावनाओं में पहली भावना है–मैत्री। सब प्राणियों के प्रति मेरे मन में मैत्री की भावना बनी रहे। मैत्री का एक अर्थ किया गया है–'मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्' दूसरों का हित चिंतन करना मैत्री है। आदमी अपनी ओर से किसी को कष्ट न पहुंचाए, किसी के दुःख में निमित्त न बने। जितना संभव हो, दूसरों के प्रति हित-चिंतन करता रहे।

दुनिया में निन्दा/तिरस्कार भी चलता है। किसी का अपमान करना बहुत आसान काम है। किसी दार्शनिक से पूछा गया–दुनिया में सरल काम क्या है? दार्शनिक ने कहा–दूसरों की निन्दा करना। मैत्री की भावना रखने वाला व्यक्ति यह चिंतन करे कि किसी के कहने से कोई व्यक्ति साहूकार नहीं बन जाता और

किसी के कहने मात्र से कोई व्यक्ति चोर नहीं बन जाता। **'अप्पा अप्पं वियाणेई'**—आदमी अपने आपको जानता है कि मैं कैसा हूं। इसलिए निन्दक व्यक्ति के प्रति भी मंगल भावना/मैत्री भावना का प्रयोग करे।

दूसरी भावना है—प्रमोद भावना। गुणीजनों के प्रति प्रमोद भावना का विकास करे। आदमी दूसरों की उन्नति देखकर नाखुश न बने अपितु दूसरों के विकास में प्रसन्न और खुश रहे। मैं भी विकास करूं और दूसरे भी विकास करें, यह भावना बनी रहे। किसी सज्जन ने मछुआरे से पूछा—भैया! यह केकड़ों वाली ओडी (बर्तन) खुली पड़ी है, फिर भी इसमें से केकड़े बाहर क्यों नहीं निकल रहे हैं? मछुआरा बोला—महाशय! इन केकड़ों में से कोई भी केकड़ा बाहर निकलने के लिए ऊंचा उठता है तो दूसरे केकड़े उसकी टांग खींचकर उसे गिरा देते हैं। इसलिए कोई भी केकड़ा बाहर नहीं निकल सकता। यह केकड़ा वृत्ति प्रमोद भावना की दुश्मन है। जिस आदमी का चित्त प्रमोद भावना से भावित हो जाता है, उसकी चेतना निर्मल बन जाती हैं।

तीसरी भावना है—कारुण्य। आदमी के मन में हिंसा की चेतना न जागे। दूसरों को कष्ट में देखकर अनुकंपा के भाव जागे। आदमी यह चिंतन करे कि मैं किसी का शोषण न करूं। एक मालिक मजदूर से काम लेता है और वेतन उस अनुपात से कम देता है तो मानना चाहिए कि मालिक के द्वारा मजदूर का शोषण किया जा रहा है। एक मजदूर यदि पैसा पूरा लेता है और काम कम करता है तो समझना चाहिए कि मजदूर द्वारा मालिक का शोषण हो रहा है। कोई किसी का शोषण न करे। एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठा और अनुकंपा की भावना बनी रहे।

मिल मालिक का अचानक स्वर्गवास हो गया। इसलिए मैनेजर ने यह घोषणा कर दी कि आज अवकाश रहेगा। कर्मचारी अपने-अपने घर जा रहे थे। एक कर्मचारी ने अपने मित्र से पूछा—मालिक का अचानक स्वर्गवास कैसे हो गया? मित्र ने कहा—सुना है कि दिल का दौरा पड़ने से उनकी मृत्यु हो गई। पहले मित्र ने कहा—अरे! दिल तो उसके था ही कहां, जो दौरा पड़े।

दिल उसके होता है, जिसमें दया होती है। निर्दयी आदमी के दिल नहीं होता। निष्करुण आदमी दूसरों को कष्ट देने में संकोच नहीं करता। आदमी में प्राणी मात्र के प्रति करुणा का भाव होना चाहिए।

चौथी भावना है—मध्यस्थ। आदमी तटस्थ रहना सीखे। जीवन में अनेक स्थितियां ऐसी आती हैं, जो अमनोज्ञ होती हैं। हम नहीं चाहते फिर भी वैसी

स्थितियां बन जाती हैं। हमारे आस-पास रहने वाले, अधीनता में रहने वाले व्यक्ति भी कभी-कभी हमारा अपमान कर देते हैं, सम्मान नहीं करते, ऐसी स्थितियों में मन उद्विग्न हो सकता है किंतु मध्यस्थ भाव का विकास हो तो आदमी प्रतिकूल परिस्थिति में तटस्थ रह सकता है। उपाध्याय विनयविजयजी द्वारा रचित शांत सुधारस भावना में सुन्दर कहा गया—

योऽपि न सहते हितमुपदेशं तदुपरि मा कुरु कोपं रे।
निष्फलया किं परिजनतप्त्या, कुरुषे निजसुखलोपं रे।।
अनुभव विनय! सदा सुखमनुभव औदासीन्यमुदारं रे।।

यदि कोई तुम्हारे हितोपदेश को नहीं सुनता है तब भी तुम उस पर क्रोध मत करो। दूसरों की निरर्थक गलती को देखकर तुम दुःखी क्यों बनते हो? हे आत्मन्! मध्यस्थ भाव का अनुभव करो और सदा सुख का अनुभव करो।

जहां एक साथ अनेक व्यक्ति रहते हों, वहां कभी कहना भी पड़ता है और कभी सहना भी पड़ता है। कहीं कहना, कहीं सहना और शांति से रहना—इस सूत्र को अपनाने वाला व्यक्ति अच्छा जीवन जी सकता है। मध्यस्थ भावना का विकास हो तो आदमी शांतिपूर्ण और व्यवहार कुशल जीवन जी सकता है।

इन चार भावनाओं के निर्धारित अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास से व्यवहार परिष्कृत होता है, चेतना निर्मल बनती है और अध्यात्म का विकास होता है।

२३

आत्मानुशासन

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**अणुसासणमोवायं**—विकास का एक उपाय है अनुशासन। जहां अनुशासन नहीं होता, वहां विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अनुशासन स्वयं पर भी किया जा सकता है और दूसरों पर भी किया जा सकता है। जब तक बच्चे छोटे होते हैं, समझशक्ति पूर्णरूप से विकसित नहीं होती और जिसमें आत्मानुशासन की क्षमता नहीं होती अथवा व्यवस्था की अपेक्षा रहती है, वहां परानुशासन चलता है। यह ठीक है, किन्तु इससे भी ऊंची बात है कि आदमी में आत्मानुशासन का विकास हो। उत्तराध्ययन सूत्र में सुन्दर कहा गया—**वरं मे अप्पा दंतो**—यह ज्यादा अच्छा है कि मैं स्वयं अपने-आप पर अनुशासन करूं। आत्मानुशासन में दो शब्द हैं—आत्मा और अनुशासन, अर्थात् अपने-आप पर अनुशासन। प्रश्न हो सकता है कि आत्मा तो अरूपी है, उसे देखा नहीं जा सकता, फिर उस पर अनुशासन कैसे किया जा सकता है? यह ठीक है कि आत्मा दिखाई नहीं देती, किन्तु आत्मा के कर्मचारी दिखाई देते हैं। उन पर अनुशासन करने से आत्मा पर अनुशासन हो जाता है। आत्मा के चार कर्मचारी हैं—शरीर, वाणी, मन और इन्द्रियां।

आत्मा का पहला कर्मचारी है—शरीर। जो व्यक्ति अपने शरीर पर अनुशासन कर लेता है, शरीर से दुश्चेष्टा नहीं करता, शरीर से कोई गलत काम नहीं करता, तो मानना चाहिए कि उसने आत्मा का एक अंश प्राप्त कर लिया

अथवा आत्मा के एक अंश पर अनुशासन कर लिया।

गुरुजी के पास कुछ विद्यार्थी अध्ययन कर रहे थे। गुरुजी ने सोचा, इन्हें विभिन्न विद्याओं का शिक्षण दिया जा रहा है, किन्तु साथ में आत्मविद्या का शिक्षण भी देना चाहिए। आत्मविद्या का एक विभाग है—अहिंसा की चेतना और आत्मा पर विश्वास। आत्मविद्या के प्रशिक्षण के दौरान एक दिन गुरुजी ने कहा—'विद्यार्थियो! परमात्मा सबको देखता है। ऐसा कोई स्थान नहीं और ऐसा कोई समय नहीं, जहां और जब परमात्मा हमें नहीं देखता।' विद्यार्थियों ने आत्मविद्या के इस सिद्धान्त को सुना। कुछ दिनों बाद गुरु ने परीक्षण करना चाहा। उन्होंने विद्यार्थियों को आटे की मुर्गियां देते हुए कहा—'जहां कोई नहीं देखता हो, वहां इन मुर्गियों की गर्दन काट देना और कटी गर्दन और शरीर का शेष भाग कल मुझे सौंप देना।' विद्यार्थी अपने-अपने घर चले गए। फिर कोई विद्यार्थी एकान्त जंगल में चला गया, कोई सूने मकान में, कोई बगीचे में तो कोई पहाड़ की तलहटी में चला गया। जिसको जहां एकान्त मिला, वहां उन मुर्गियों की गर्दन काट दी। किन्तु एक विद्यार्थी ज्योंही गर्दन काटने को तैयार हुआ, तत्काल दिमाग में एक विचार कौंधा, गुरुजी ने कुछ दिनों पहले हमें बताया था कि परमात्मा सब जगह देखता है, तो क्या यहां परमात्मा नहीं देखता? वह लड़का मुर्गी की गर्दन नहीं काट सका। दूसरे दिन उस एक विद्यार्थी के अलावा अन्य सारे विद्यार्थी कटी हुई मुर्गी को लेकर गुरुजी के पास आए। गुरुजी ने उस एक विद्यार्थी से पूछा—'वत्स! तुमने मुर्गी की गर्दन क्यों नहीं काटी? क्या तुम्हें कोई एकान्त स्थान नहीं मिला?' विद्यार्थी ने कहा—'गुरुदेव कुछ दिन पहले आपने आत्मविद्या का एक पाठ पढ़ाया था कि परमात्मा सबको सब जगह देखते हैं, फिर मैं गर्दन कैसे काट सकता था?' गुरुजी का चित्त प्रफुल्लित हो गया कि मुझे एक विद्यार्थी तो ऐसा मिला, जिसने आत्मविद्या का पाठ आत्मसात् किया है। इस प्रकार शरीर से गलत काम नहीं करना, यह शरीर पर अनुशासन है, जो आत्मानुशासन का एक विभाग है।

आत्मा का दूसरा कर्मचारी है—वाणी। वाणी पर अनुशासन कर लिया जाए तो कुछ अंशों में आत्मानुशासन सिद्ध हो सकता है। आदमी बोलता है, प्रकृति से उसे वाणी की शक्ति प्राप्त है, किन्तु कई लोग ऐसे भी हैं जो बोल नहीं सकते। कई लोग तुतुलाते हैं, हकलाते हैं, स्पष्ट नहीं बोल सकते, बोलने में कठिनाई होती है। ऐसी स्थिति में जिनको भाषण की शक्ति प्राप्त है, उन्हें यह

सोचना चाहिए कि हम अपनी वाणी का दुरुपयोग न करें, उचित भाषा का प्रयोग करें, मधुर भाषा का प्रयोग करें और जहां तक संभव हो यथार्थ भाषा का प्रयोग करें। यदि आदमी का यह संकल्प हो तो मानना चाहिए कि उसने वाणी पर अनुशासन कर लिया है। वाणी-अनुशासन के अभाव में आदमी कभी हंसी-मजाक में झूठ बोल देता है। कभी लालचवश मिथ्या बोल देता है। कभी भयवश तो कभी गुस्से में आकर झूठ बोल देता है। कभी कटु बोल देता है। कभी वाणी से तिरस्कार कर देता है। आत्मानुशासन अथवा विकास का इच्छुक व्यक्ति ज्यादा न बोले, किसी की निन्दा न करे, शिष्ट, शालीन और मधुर भाषा का प्रयोग करे। वाणी का संयम और सम्यक् प्रयोग करने वाला व्यक्ति आत्मानुशासन की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

आत्मा का तीसरा कर्मचारी है—मन। मन पर अनुशासन करना बहुत कठिन काम है। मन की दो अवस्थाएं हैं—एक व्यग्र अवस्था और दूसरी एकाग्र अवस्था। व्यग्र अवस्था में आदमी का मन विभिन्न बिन्दुओं पर घूमता रहता है। जब आदमी का मन एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है, वह मन की एकाग्र अवस्था होती है। प्रश्न हो सकता है कि मन को एकाग्र कैसे किया जा सकता है? श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को एकाग्र बनाया जा सकता है। एकाग्रता के साथ मन में निर्मलता बनी रहे। हालांकि झूठ बोलने या गलत काम करने में भी मन एकाग्र रह सकता है, किन्तु वह एकाग्रता मलिन होती है। आदमी का मन निर्मलतायुक्त एकाग्र बने तो मन पर अनुशासन हो सकता है। एक ग्रामीण व्यक्ति ने किसी महात्माजी के पास आलू खाने का त्याग ले लिया। एक बार गांव में भोज हुआ। उसमें वह ग्रामीण व्यक्ति भी आमंत्रित था। भोज में आलू की सब्जी बनाई गई। ग्रामीण का मन ललचाने लगा। पास में स्थित व्यक्ति की थाली में एक व्यक्ति आलू परोस रहा था। संयोगवश आलू के कुछ टुकड़े उस ग्रामीण की थाली में भी गिर गए। वह तत्काल उन्हें उठाकर खाने लगा। साथियों ने उसे याद दिलाया कि तुम्हारे आलू खाने का त्याग है, फिर कैसे खा रहे हो? उस व्यक्ति ने कहा—यह आलू नहीं है, यह तो गुड़कन है। गुड़कते-गुड़कते मेरी थाली में आ गया, इसे खाने में कोई दोष नहीं है। जहां इस प्रकार की स्थिति होती है, वहां समझना चाहिए कि मन पर अनुशासन नहीं है। मन को वश में करना ही मन पर अनुशासन है, जो कि आत्मानुशासन का ही एक विभाग है।

आत्मा का चौथा कर्मचारी है—इन्द्रियां। कान, आंख, नाक, जिह्वा और त्वचा—ये पांच इन्द्रियां हैं। इनके द्वारा ज्ञान भी होता है और भोग भी होता है।

कान के द्वारा शब्द का, आंख के द्वारा रूप का, नाक के द्वारा गन्ध का, जिह्वा के द्वारा रस का और त्वचा के द्वारा स्पर्श का ज्ञान भी होता है और भोग भी होता है। इन्द्रियां केवल भोग का साधन न बनें। उनसे सद्ज्ञान भी करना चाहिए। कानों से फिल्मी गाने भी सुने जा सकते हैं और सन्तों का प्रवचन भी सुना जा सकता है। आंखों से मनमोहक और अश्लील दृश्य भी देखे जा सकते हैं और सन्तों के दर्शन भी किए जा सकते हैं। नाक से विभिन्न प्रकार की सुगन्ध भी ली जा सकती है और प्राणायाम भी किया जा सकता है। जिह्वा से स्वादिष्ट भोजन भी किया जा सकता है, अशिष्ट भाषा भी बोली जा सकती है और भगवान की स्तुति भी की जा सकती है। त्वचा से मनोज्ञ व भोगात्मक स्पर्श भी किया जा सकता है और दूसरों की सेवा भी की जा सकती है। इन्द्रियां किस कार्य में प्रयुक्त हो रही हैं, यह ध्यान देने की बात है। इन्द्रियों का सदुपयोग हो रहा है अथवा इन्द्रियों का निरोध किया जा रहा है, तो मानना चाहिए कि इन्द्रियों पर अनुशासन हो गया है।

आत्मानुशासन दुष्कृत से बचने का एक उपाय है। व्यक्ति अपने शरीर, वाणी, मन और इन्द्रियों पर अनुशासन कर आत्मानुशासन की दिशा में अग्रसर हो सकता है और अपने जीवन में विकास कर सकता है।

२४

प्रशस्त जीवनशैली के आयाम

दुनिया के सभी प्राणी जीना चाहते हैं। मरना कोई नहीं चाहता। कभी-कभी विवशतावश या परिस्थितिवश उन्हें मृत्यु का वरण करना पड़ता है, किन्तु सामान्यतया व्यक्ति जीना चाहता है। वह मात्र जीना ही नहीं चाहता, सुखी रहना भी चाहता है।

एक सुख वह होता है जो बाहर के निमित्तों से मिलता है, जैसे गर्मी के समय पंखा, कूलर आदि सुविधाओं के योग से मिलने वाला सुख। एक सुख आदमी के भीतर के साथ जुड़ा हुआ होता है, जिसे मानसिक, भावात्मक या आत्मिक-सुख भी कहा जा सकता है। बाहर से सब सुविधाएं मिलने पर भी कई बार आदमी भीतर से दुःखी रहता है। बाहर की सुविधा एक बात है और भीतर की शान्ति मिलना दूसरी बात है। आदमी की जीवनशैली अच्छी हो तो वह सुखी जीवन जी सकता है।

मनुष्य एक उच्च कोटि का आदमी है इसलिए उसकी जीवनशैली भी विशिष्ट होनी चाहिए। विशिष्ट जीवनशैली के लिए मैं यदा-कदा चार सूत्र बताया करता हूं।

पहला सूत्र है—ईमानदारी के प्रति निष्ठा। आदमी के मन में नैतिक मूल्यों के प्रति, सचाई के प्रति, प्रामाणिकता के प्रति निष्ठा जाग जाए। उसमें यह आस्था जाग जाए कि कोई भी कठिनाई आएगी तो उसे झेल लूंगा, किन्तु ईमानदारी को नहीं छोड़ूंगा। ईमानदारी की दो बाधाएं हैं—असत्य और चौर्य। जहां असत्य और चौर्य है, वहां बेईमानी है। आदमी मृषावाद और चोरी की

वृत्ति से बचने का प्रयास करे। कभी-कभी आदमी धोखा देने का भी प्रयास करता है। और तो क्या, देवी-देवताओं को भी धोखा दे देता है। एक आदमी के सामने भयंकर विपत्ति आ गई। उसने अपने इष्ट को याद किया और प्रार्थना की—'हे प्रभो! मुझे इस विपत्ति से बचा लो। मैं आपको प्रसाद चढ़ा दूंगा।' संयोग की बात, वह विपत्ति से बच गया। उसने एक किलो खजूर खरीदे और अपने इष्टदेव के मन्दिर में गया। उसने सोचा कि ऊपर की चीज को क्या चढ़ाना है, भीतरी भाग चढ़ाना चाहिए। इसलिए खजूर की गुठलियां तो चढ़ा दीं और ऊपर का भाग स्वयं खा गया। कुछ समय बीता, फिर विपत्ति आ गई। फिर उसने अपने इष्टदेव को याद किया और बचाने की प्रार्थना की। आस्था या संकल्प का ही प्रभाव समझना चाहिए, वह फिर बच गया। इस बार उसने एक किलो केले खरीदे और प्रसाद चढ़ाने मन्दिर गया। उसने सोचा, पिछली बार भीतरी भाग चढ़ाया था, इस बार ऊपर का भाग चढ़ा देता हूं। उसने छिलके चढ़ा दिए और केले स्वयं खा गया। इस प्रकार आदमी भगवान को भी धोखा दे देता है।

अगर शान्तिमय जीवन जीना है तो धोखा, बेईमानी को छोड़ना होगा और ऋजुता व सरलता को स्वीकार करना होगा। सरलता और ईमानदारी, दोनों एक ही बात हैं। सरलता नहीं है तो फिर ईमानदारी का रहना भी संभव नहीं होगा। इसलिए ऋजुता और प्रामाणिकता, दोनों में अभिन्नता अथवा परम नैकट्य माना गया है। ईमानदारी शुद्ध, निर्मल और शान्तिमय जीवन का पहला और प्रमुख सूत्र है।

दूसरा सूत्र है—संवेग संतुलन, आक्रोश संयम। आदमी को यदा-कदा चाहे-अनचाहे गुस्सा आ जाता है, परन्तु उसमें इतनी क्षमता का विकास तो होना चाहिए कि प्रतिकूल स्थिति में भी वह शान्त रह सके। जब व्यक्ति के चेहरे पर आक्रोश की रेखाएं छा जाती हैं, तब उसका सुन्दर चेहरा भी विकृत बन जाता है। वे लोग धन्य हैं, जो सदा शान्त रहते हैं और जिनके चेहरे पर अनुकूल-प्रतिकूल, हर परिस्थिति में मुस्कान देखने को मिलती है।

परिवार में समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं। उसका एक कारण है—सहनशक्ति का अभाव। जिनको साथ में जीना हो और एक-दूसरे को सहन करने की क्षमता न हो तो वे शान्तिमय जीवन कैसे जी पायेंगे? एक बाईस वर्षीय युवक के मन में विकल्प उठा कि मैं शादी करूं या नहीं? उसने सोचा, इस विषय में मुझे किसी दिव्य पुरुष से परामर्श लेना चाहिए। वह सन्त कबीरजी के पास गया और बोला—सन्तप्रवर! मैं आपके पास एक परामर्श मांगने आया

हूं कि मुझे शादी करनी चाहिए या नहीं? कबीरजी ने कहा—युवक! तुम कुछ देर यहीं बैठो, फिर बात करेंगे। कबीरजी ने अपनी पत्नी से कहा—जरा, लालटेन जलाना। मध्याह्न का समय था फिर भी बिना कोई प्रश्न किए उसने लालटेन जला कर रख दी। कुछ देर बाद कबीरजी ने दो गिलास दूध लाने का आदेश दिया। पत्नी ने एक गिलास कबीरजी को और एक गिलास अतिथि को पकड़ा दी। कबीरजी दूध पीते गए और पत्नी की प्रशंसा करते गए। युवक भी दूध पीने लगा, किन्तु पी नहीं सका, क्योंकि उसमें नमक डाला हुआ था। वह वहां से उठकर जाने लगा, तब कबीरजी ने कहा—युवक! कहां जा रहे हो? युवक ने कहा—मैं तो आपके पास परामर्श लेने आया था, किन्तु आप तो कैसी बेहूदी बातें कर रहे हैं! कबीरजी ने कहा—मैं तो तुम्हारे प्रश्नों का ही जवाब दे रहा हूं। मैंने मध्याह्न में लालटेन जलाने के लिए कहा तो पत्नी ने बिना किसी तर्क के लालटेन जला दी, यानी मेरी हरकत को उसने सहन किया। उसने दूध में नमक डाला तो मैंने भी उसे शान्त भाव से पी लिया। उस पर आक्रोश नहीं किया। युवक! अगर पत्नी की हरकतों को सहन कर सको तो शादी करना, अन्यथा बाबा बन जाना। मेरा तो मानना है कि गलती करने पर अंगुली-निर्देश भी करना चाहिए, किन्तु साथ में सहन करने का मादा भी होना चाहिए। तभी व्यक्ति शान्तिमय जीवन जी सकता है। मैंने एक सूत्र बना दिया—सहना चाहिए, मौके पर कहना भी चाहिए और शान्ति के साथ रहना चाहिए।

तीसरा सूत्र है—संयम। आदमी में संयम का विकास होना चाहिए। जहां-जहां इसमें कमी रहती है, वहां-वहां समस्या खड़ी हो जाती है। मेरा तो मानना है कि अपेक्षित संयम के अभाव में व्यक्ति का पूरा विकास नहीं हो सकता। आदमी में कठोर जीवन जीने का भी मादा होना चाहिए। उसके खान-पान, रहन-सहन में भी संयम होना चाहिए। संयम के अभाव में वह अखाद्य खा लेता है और अपेय पी लेता है। खान-पान के असंयम के कारण वह अनेक समस्याओं का निमंत्रण दे देता है, अनेक बीमारियां हो जाती हैं। शरीर के अनेक अवयव अव्यवस्थित हो जाते हैं। इसलिए आदमी कुछ त्याग, नियमों को स्वीकार करे। अपने जीवन में संयम को महत्त्व दे। वह संयम को जीवन का भार न माने, शृंगार माने, उपहार माने। आदमी विचारों में भी संयम रखे। अनावश्यक चिन्तन न करे और किसी के बारे में गलत न सोचे, निषेधात्मक विचारों को स्थान न दे। यदि जीवन में संयम का अवतरण हो जाता है तो आदमी शान्तिमय जीवन जी सकता है।

चौथा सूत्र है—समय-नियोजन। आदमी की दिनचर्या ठीक होनी चाहिए।

कई बार अव्यवस्थित दिनचर्या के कारण करणीय कार्य छूट जाते हैं और समय बीत जाता है। इसलिए आदमी को योजनाबद्ध कार्य करना चाहिए। हर आदमी को २४ घण्टे का समय मिलता है। उसमें से कुछ समय चेतना के लिए भी लगाना चाहिए। आदमी केवल शरीर के आस-पास ही न रहे, आत्मा के आस-पास रहने का भी अभ्यास करे। यदि आदमी का संकल्प हो तो कुछ समय चेतना के लिए निकाला जा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि उसको प्राथमिकता दी जाए। मैं तो सोचता हूं कि आदमी को सोने-जागने का समय निश्चित रखना चाहिए। यदि दोनों न बैठ सकें तो कम-से-कम एक समय तो निश्चित रखना ही चाहिए। गुरुदेव तुलसी को मैंने देखा, उनके सोने में देरी हो जाती थी, किन्तु उनके जागने का समय निश्चित था। वे प्रातः चार बजे विराजमान हो जाते थे। आचार्यश्री महाप्रज्ञ अपने समय को प्रायः पूर्ण नियोजित रखते थे। किस समय कौनसा कार्य करना चाहिए, यह ध्यान देकर समय-नियोजन करना चाहिए। आदमी अपनी दिनचर्या को व्यवस्थित रखे और कुछ समय अध्यात्म-चेतना के लिए भी लगाए तो शान्तिमय जीवन जी सकता है।

आदमी में ईमानदारी के प्रति निष्ठा जाग जाए, संवेगों पर नियंत्रण करना सीख ले, संयम का भाव पुष्ट हो जाए और समय-नियोजन करना सीख ले तो जीवनशैली विशिष्ट/प्रशस्त बन सकती है और वह शान्तिमय, सुखमय जी सकता है।

२५

स्वस्थ जीवनशैली : ईमानदारी

हम सभी जीवन जी रहे हैं। छोटे-छोटे प्राणी भी जीवन जीते हैं। एक चींटी भी जीवन जीती है। पेड़-पौधे भी जीवनयापन करते हैं। प्रश्न हो सकता है, जीवन क्या है? जीवन की परिभाषा क्या है? मैंने इस प्रश्न पर विचार किया। मेरे मस्तिष्क से मुझे जो उत्तर मिला, वह संतोषप्रद लगा। वह उत्तर यह है, जहां आत्मा और शरीर, दोनों का योग होता है, उस स्थिति को जीवन कहते हैं। जहां केवल आत्मा है, शरीर नहीं है, वहां जीवन नहीं हो सकता। जैसे परमात्मा में केवल आत्मा है, शरीर नहीं है तो वहां जीवन जैसी कोई बात नहीं है। जहां केवल शरीर है, आत्मा नहीं है वहां भी जीवन नहीं हो सकता। जैसे मृत शरीर कहीं पड़ा है, आत्मा नहीं है, यानी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी है, फिर जीवन शेष नहीं रहता। आत्मा और शरीर का संयोग ही जीवन है।

हमें जीवन प्राप्त है। हमारा प्रयास यह रहे कि हमारा जीवन सार्थक बने, सफल बने। आदमी को आदमियत का एहसास हो। इन्सान में इन्सानियत का जागरण हो। भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में—'मानव का दानव बन जाना उसकी पराजय है, मानव का महामानव होना उसका चमत्कार है और मानव का मानव होना उसकी विजय है।' जीवन जीना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है कलात्मक जीवन जीना। जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है, जीने की कला सीख लेना। व्यक्ति अनेक कलाओं में निष्णात बनने के बाद भी यदि जीने की कला को, धर्म की कला को नहीं सीखता है, तो मानना चाहिए उसने कुछ भी नहीं सीखा। धर्म यदि आचार में

नहीं आया, व्यवहार में नहीं उतरा तो जीवन की सार्थकता में प्रश्नचिह्न लग सकता है।

धर्म के अनेक प्रकार हैं, अनेक सूत्र हैं। उनमें से एक सूत्र है—ईमानदारी। ईमानदारी एक ऐसा धर्म है, जिसे हर वर्ग का आदमी स्वीकार कर सकता है। भले ही कोई आदमी आस्तिक हो, आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक को मानने वाला हो अथवा नास्तिक हो, आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक को न मानने वाला हो। दोनों के लिए ईमानदारी आवश्यक है, उपयोगी है। जो आदमी आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप को मानता हो, उसको तो ईमानदारी का फल अच्छा मिलेगा ही। उसकी आत्मा शुद्ध बनेगी। जो व्यक्ति पुण्य-पाप आदि को नहीं मानता, परलोक को नहीं मानता, उसके लिए भी ईमानदारी लाभदायी है। इस लोक के कल्याण के लिए, इस जीवन के उद्धार के लिए, समाज की भलाई के लिए भी आदमी को ईमानदारी के रास्ते पर चलना चाहिए।

ईमानदारी वह मार्ग है जिस पर चलने से व्यक्ति का भी भला होता है और समष्टि का भी भला होता है। अगर समाज में धोखाधड़ी चलती रहेगी, हर व्यक्ति एक-दूसरे को ठगता रहेगा तो समाज सुख से कैसे जी पाएगा? आप कल्पना करें—किसान अनाज बेचता है। अगर खराब अनाज बेचेगा तो समाज का स्वास्थ्य खराब हो जाएगा। एक व्यापारी माल बेचता है। खराब माल बेचेगा, मिलावटी माल बेचेगा तो समाज पर बुरा असर पड़ेगा। एक कैमिस्ट दवा बेचता है। अगर वह दवा बेचने में गड़बड़ी करेगा तो उसका नुकसान भी समाज को ही होगा। अगर हर व्यक्ति ईमानदार है तो सुख किसको मिलेगा? समाज को ही मिलेगा। विचारक राबर्ट्सन के शब्दों में—'सफलता उन्हें पारितोषिक रूप में मिलती है जो अपने काम में ईमानदार हैं, जिन्हें अपने काम से प्यार है।'

अमेरिका का हार्वर्ड विश्वविद्यालय संसार का विख्यात संस्थान है। इस विद्यालय की व्यायाममाला बहुत प्रसिद्ध है। उसके निर्देशक प्रोफेसर सार्जेंट थे। उन्होंने इसी विश्वविद्यालय से संबंधित वाडीटेन कॉलेज में शिक्षा ग्रहण की थी। उनकी व्यायामशाला में बहुत रुचि थी, इसलिए उन्हें व्यायामशाला का निर्देशक बना दिया गया। उस समय सार्जेंट को केवल पांच डालर प्रति सप्ताह वेतन मिलता था। इतने कम वेतन पर भी सार्जेंट प्रसन्नतापूर्वक अपना काम करता रहा। एक साल के बाद वहां एक प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। सार्जेंट ने अपनी व्यायामशाला का स्टाल कुछ इस ढंग से लगाया कि देखने वालों की

लाइनें लग गईं। उसके स्टाल को प्रथम पुरस्कार दिया गया। इसके साथ ही सार्जेंट का वेतन भी ६० डालर प्रति सप्ताह कर दिया गया। जब सार्जेंट से इस अप्रत्याशित प्रगति के बारे में पूछा गया तब उसने बताया—'मैं केवल ५ डालर प्रति सप्ताह वेतन पर काम कर रहा था। मुझे इसका दुःख या शिकायत नहीं थी। मैं ईमानदारी से अपना कार्य कर रहा था और अवसर के इन्तजार में था। यह अवसर मुझे प्रदर्शनी के दौरान मिला और मैं बाजी मार ली।'

महत्त्व पैसे का नहीं, काम का होता है। ईमानदारी से किया गया काम प्रगति की ओर ले जाता है। अंग्रेजी भाषा का सूक्त है—'ऑनेस्टी इज दी बेस्ट पोलिसी।' सूत्र बढ़िया है। इसको बोलना भी अच्छा है, याद करना भी अच्छा है, किन्तु सबसे ज्यादा अच्छा है, इसको जीवन में उतारना। ईमानदारी आदमी के जीवन में आ जाए, जन-जन में नैतिकता का जागरण हो, ईमानदारी के भाव विकसित हों तो आदमी अच्छा जीवन जी सकता है, समाज अच्छा बन सकता है और स्वस्थ समाज की रचना संभव हो सकती है।

आदमी के भीतर ईमानदारी के प्रति आस्था का भाव जगे। जिस तत्त्व के प्रति आस्था होती है, उसको जीवन में उतारना आसान हो सकता है। जिसके प्रति आस्था, श्रद्धा ही न हो, उसको जीवन में उतारना कठिन होता है। आदमी स्वयं आत्म-विश्लेषण करे कि मेरे जीवन में ईमानदारी किस सीमा तक है? हालांकि थोड़ा संघर्ष झेलना पड़ सकता है, कष्ट आ सकते हैं, किन्तु आदमी का मनोबल और संकल्प के साथ कष्ट झेलना मंजूर कर ले पर ईमानदारी को छोड़ना मंजूर न करे। ऐसा संकल्प हर आदमी का हो जाए तो समाज का नव-निर्माण हो सकता है। समाज का कायाकल्प हो सकता है।

२६

जीवन का विभूषण : विनय

आठ प्रकार के मूल्य हैं—(१) शारीरिक मूल्य, (२) आर्थिक मूल्य, (३) मनोरंजक मूल्य, (४) सामाजिक मूल्य, (५) चारित्रिक मूल्य, (६) सौन्दर्यात्मक मूल्य, (७) बौद्धिक मूल्य, (८) धार्मिक व ईश्वर विषयक मूल्य।

मूल्य यानी श्रेष्ठता। व्यक्ति जिस क्षेत्र में रहे अथवा काम करे, उसमें श्रेष्ठता हासिल करे। शिक्षा के क्षेत्र में यदि श्रेष्ठता आ जाए तो वह मूल्यपरक शिक्षा के रूप में प्रतिष्ठित हो सकती है। साधना के क्षेत्र में यदि श्रेष्ठता आ जाए तो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की भूमिका तक पहुंच सकता है।

जीवन में अनेक तरह के मूल्य हो सकते हैं। अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सकती है। साधक व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिक मूल्य का बहुत महत्त्व होता है। आध्यात्मिक मूल्य के अनेक प्रकार हो सकते हैं। उनमें से एक है—नम्रता। यह एक ऐसा आधारभूत तत्त्व है जिसके सहारे अध्यात्म का बहुमंजिला महल खड़ा किया जा सकता है। अगर आधार मजबूत नहीं है तो कभी भी महल के गिरने की संभावना बन सकती है।

जो व्यक्ति अशालीन होता है, उदण्ड होता है, नम्रताहीन होता है, उसे तिरस्कार प्राप्त होता है। चाहे वह साधुसंघ में हो या फिर गृहस्थ-समाज में। आगमकार ने उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम-अध्ययन 'विणयसुयं' में ऐसे उच्छृंखल व्यक्ति को कुतिया की उपमा से उपमित करते हुए लिखा है—

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई।।

जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु गण से निकाल दिया जाता है। आचार्य भिक्षु आगम की इस गाथा को राजस्थानी भाषा में रूपान्तरित करते हुए लिखते हैं–

कुह्या कानां री कूतरी, तिणरे झरै कीड़ा राध लोही रे।
सगले ठाम स्यूं काढे हुड-हुड करे, घर में आवण न दे कोई रे।
धिग्-धिग् अविनीत आत्मा।।

अविनीत व्यक्ति के लिए पहला हेतु दिया गया है–'दुस्सील।' जो व्यक्ति दुःशील होता है, वह संघ अथवा घर से निकाल दिया जाता है, तिरस्कृत किया जाता है। शील शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं–स्वभाव, समाधि और आचार।

(१) स्वभाव–जिसका स्वभाव खराब है, वह दुःशील होता है।

(२) समाधि–जो असमाधि में रहता है, वह दुःशील होता है।

(३) आचार–जिसका आचार गलत है, वह दुःशील होता है।

बौद्ध साहित्य 'विसुद्धिमार्ग' में कायिक, वाचिक और मानसिक अनाचार को दुःशील माना गया है। वस्तुतः आदमी अच्छा या बुरा नहीं होता। उसकी प्रकृति, आचार, विचार ही उसे अच्छा या बुरा बनाते हैं। जिस व्यक्ति की प्रकृति खोड़ीली/अधम हो, आचार का स्थान दुराचार ने ले लिया हो, विचार निषेधात्मक हों तो समझना चाहिए कि वह विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है।

जीवन में शील को सुरक्षित रख लेना बहुत बड़ी बात है। पंचामाचार्य श्री मघवागणी की चारित्रिक निर्मलता को सारे संघ का अखण्ड विश्वास प्राप्त था। यहां तक कि संघ-विरोधी व्यक्ति भी उनका पूर्ण विश्वास किया करते थे। संघ से पृथक् हुए मुनि छोगजी के सम्मुख एक बार मघवागणी के विषय में कोई बात चली। तब उन्होंने कहा कि मघराजजी के विषय में हमें शिकायत नहीं है। वे तो इतने चारित्रनिष्ठ हैं कि उन्हें यदि अकेली स्त्री के निकट एकान्त में रख दिया जाए तो भी हमें कोई शंका नहीं होगी।

दूसरा हेतु दिया गया है–'पडिणीए।' जो गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाला, गुरुदृष्टि को महत्त्व नहीं देना वाला और गुरु का अपमान करने वाला

होता है, उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जो प्रत्यनीक होता है, वह गुरु के कथन का प्रतिवाद करता है, सदा गुरु के दोष देखता रहता है और गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल वर्तन करता है।

चैतन्य महाप्रभु के अनेक शिष्यों में छोटे हरिदास नामक शिष्य हुए हैं। वे स्वभाव से कुछ चंचल थे। एक दिन भिक्षा में चावल लेकर आए। चैतन्य महाप्रभु ने पूछा—चावल कहां से लाया? हरिदास ने चावल देने वाली बहन का नाम बता दिया। वह बहन बाल-विधवा थी। महाप्रभु ने हरिदास को उसके घर भिक्षार्थ जाने के लिए मना किया था। फिर भी वह वहां से भिक्षा ले आया। महाप्रभु को यह उचित नहीं लगा। उन्होंने उस समय एक श्लोक उच्चारित किया—

निष्किंचनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य,
पारम्परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
यत् संगमो विषयणामथ योषितां च,
हा हन्त! हन्त! विषभक्षणतोऽप्यसाधुः।।

'जो साधक परिग्रही है, भगवान के भजन में लीन है, संसार-सागर से पार पाना चाहता है, वह यदि विषयी पुरुषों अथवा स्त्रियों का संगम चाहता है तो उसका यह कार्य विष-भक्षण से भी अधिक घातक है।' चैतन्य महाप्रभु ने इस संबोध के साथ ही छोटे हरिदास को अपनी मण्डली से पृथक् कर दिया। बहुत अनुनय-विनय करने पर भी उसे पुनः शिष्य रूप में स्वीकार नहीं किया। कहा जाता है, दुःखी होकर छोटे हरिदास ने जल में डूब कर प्राण त्याग दिए।

जो शिष्य प्रत्यनीक होता है, गुरु-आज्ञा का उल्लंघन करता है और गुरु की हितकारी वाणी को आक्रोश और प्रहार के समान मानता है, उसे संघ से निकाल दिया जाता है। कबीरदासजी ऐसे शिष्य/व्यक्ति को अंधा बताते हुए लिखते हैं—

कबीरा ते नर अन्ध है, गुरु को समझे ओर।
हरि रुठ्यां गुरु ठोर है, गुरु रुठ्यां नहीं ठोर।।

तीसरा हेतु दिया गया है—'मुहरी'। मुहरी शब्द के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं। (१) मुखारि—जिसका मुंह ही अपना शत्रु बन जाता है। जो मुंह से अनर्गल बातें करता है, अपने मुंह से अपना ही नुकसान करवा लेता है अथवा कर लेता है, वह मुखारि कहलाता है। (२) मुधारि—जो असंबद्ध भाषा बोलता है, व्यर्थ की बात करता है, निरर्थक बोलता है, वह मुधारि कहलाता है। (३)

मुखर—जो वाचाल होता है, अनपेक्षित बोलता है, वह मुखर कहलाता है।

आदमी बोलने से पहले यह चिन्तन करे कि मैं जो बात कहने जा रहा हूं, उस बात में वजन है या नहीं, प्रामाणिकता है या नहीं। विचार करने के बाद व्यक्ति अपनी बात प्रस्तुत करे तो उसका अधिक मूल्य होता है। मुखरता आदमी को तुच्छ बनाने वाली होती है और मौन आदमी को ऊंचा उठाने वाला होता है।

जो व्यक्ति विनीत होता है, आचार-सम्पन्न होता है, गुरुदृष्टि को समझने वाला होता है, मितभाषी और मधुरभाषी होता है। उसका सम्मान होता है, प्रतिष्ठा मिलती है। जो व्यक्ति अविनीत होता है, दुःशील होता है, गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल आचारण करता है और बहुभाषी होता है, वह तिरस्कार का पात्र बनता है।

आदमी यह प्रयास करे कि उसके जीवन में शालीनता, नम्रता, आचार-सम्पन्नता और परीक्ष्यभाषिता का विकास हो। जिससे वह आत्मकल्याण की दिशा में द्रुतगति से आगे बढ़ सके।

२७

भीतर की आंख

जैन वाङ्मय में सुन्दर कहा गया—**णमोत्थु णं चक्खुदयाणं**—चक्षुदाता को मेरा नमस्कार हो। आदमी के जीवन में चक्षु का बहुत बड़ा महत्त्व है। जो व्यक्ति प्रज्ञाचक्षु है, अर्थात् जिसके पास आंख नहीं है, उससे पूछा जाए कि आंख का कितना महत्त्व है? उसके सामने कितनी समस्याएं आती होंगी? चक्षुहीन आदमी के लिए दुनिया का मूल्य और उपयोग भी कितना अल्प हो जाता होगा? चक्षुष्मान् व्यक्ति उस स्थिति को कैसे जान सकता है? जिस स्थिति को चक्षुहीन आदमी भोगता है। हालांकि व्यवहार के धरातल पर कुछ जाना भी जा सकता है, किन्तु अनुभूति के स्तर पर कितना और कैसे जाना जा सकता है?

मानव-सेवा करने वाली अनेक संस्थाएं और अनेक व्यक्ति आई कैम्प आदि लगा कर चक्षु को ठीक करने और उसे सबल बनाने का प्रयास करते हैं। जिसके पास आंख है, वह आदमी यह चिन्तन करे कि मैं आंख का अच्छा उपयोग करता रहूं। आदमी इन आंखों से अच्छा साहित्य पढ़े, गुरु-दर्शन करे अथवा आंख से कोई अनिमेष प्रेक्षा जैसा ध्यान का प्रयोग करे तो नेत्र का सम्यक् उपयोग हो सकता है। एक बार ईसा ने किसी अन्धे व्यक्ति को आंख का दान दिया। जब कुछ दिनों बाद उसे वेश्या के पीछे दौड़ता हुआ देखा तो पूछा—'क्या मैंने इसलिए आंख दी थी कि तुम ऐसा काम करो?' उस व्यक्ति ने बहुत मार्मिक जवाब दिया कि प्रभो! यह कमी आपने ही रखी है। आपने मुझे बाहर की आंख तो दे दी, किन्तु साथ में भीतर की आंख नहीं दी। यदि भीतर

की आंख भी खोल देते तो मैं ऐसा काम कभी नहीं करता। आदमी के लिए बाहर की आंख का मूल्य है तो भीतर की दृष्टि भी अपेक्षित है। वह दृष्टि जाग जाए तो आदमी का जीवन धन्य हो जाता है, कृतपुण्य हो जाता है। आदमी अपने-आपको देखने लग जाता है।

अगर आदमी की दृष्टि आत्मा पर केन्द्रित हो जाए तो मानना चाहिए कि वह मोक्ष की दिशा में प्रस्थान कर रहा है। यदि आदमी की दृष्टि भौतिक पदार्थों पर केन्द्रित है, तो समझना चाहिए कि वह अभी बाहर ही है। जैसे-जैसे संयम/त्याग का विकास होता है, आदमी बाहर से भीतर की ओर आने लगता है। अगर व्यक्ति के भीतर का चक्षु बन्द है, केवल बाहर की दृष्टि है, तो संयम की दिशा में विकास भी कठिन हो जाता है।

भारतीय साहित्य में सत्संग का बहुत गौरव गाया गया है। उसका एक कारण यही है कि सत्संगत करने से आदमी की भीतर की दृष्टि खुल सकती है। उसे आत्मा के बारे में कुछ ज्ञान हो सकता है, पुनर्जन्म के बारे में कुछ ज्ञान हो सकता है और यह ज्ञान उसे संयम की दिशा में आगे ले जाने वाला होता है। इसलिए बार-बार सत्संग में भाग लेने के लिए कहा गया है। सत्संग का मतलब केवल साधुओं के पास रहना ही नहीं है, अच्छे दृश्यों को देखना भी एक प्रकार का सत्संग है। टेलीविजन में अनेक प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। यह आदमी के विवेक पर निर्भर करता है कि वह केवल फिल्में आदि ही देखता है या सन्तों के प्रवचन आदि भी सुनता है। टेलीविजन से दोनों चीजें प्राप्त हो सकती हैं। धर्मगुरुओं के प्रवचन आदि भी सुने जा सकते हैं और भौतिक चीजें भी देखने को मिल सकती हैं। आदमी केवल भौतिक पदार्थों के प्रति ही आकृष्ट न बने, जीवनोपयोगी और आत्मा के लिए कल्याणकारी सामग्री देखे, सुने, ताकि उसके संस्कार अच्छे बने रहें। इस प्रकार सत्संग के द्वारा आदमी के भीतर वैराग्य जाग सकता है, भीतर की आंख खुल सकती है। भीतर की आंख खुल गई तो मानो विवेक-चक्षु खुल गया और उस अमल विवेक की प्राप्ति होने का मतलब है—आत्म-दर्शन की ओर प्रस्थित हो जाना।

जिस व्यक्ति के पास विवेक हो, प्रज्ञा हो और साथ में नियंत्रण शक्ति हो तो आदमी असंयम से काफी बच सकता है और संयम की साधना में आगे बढ़ सकता है। जैन रामायण में एक प्रसंग आता है। श्री रामचन्द्रजी की राज-परम्परा में एक पूर्वज राजा हुए हैं—हिरण्यगर्भ। एक बार वे राजमहल में बैठे थे। महारानी भी पास में थी। अचानक महारानी ने कहा—'महाराज! दूत आया है।'

राजा ने इधर-उधर देखा, कहीं कोई व्यक्ति दिखाई नहीं दिया, तब पूछा—'कहां है दूत?' महारानी राजा के सिर से एक सफेद बाल तोड़ कर राजा के हाथ में थमाते हुए बोली—'राजन्! यह रहा दूत। यह मृत्यु का संवाद लेकर आया है।' राजा ने तत्काल कहा—'मैंने बहुत बड़ी गलती कर दी। सफेद बाल आने से पहले-पहले मुझे राज्य की व्यवस्था कर संन्यास ले लेना चाहिए था। यह हमारी कुल परम्परा रही है।' हिरण्यगर्भ ने तत्काल अपने पुत्र को उत्तराधिकार सौंपा और स्वयं दीक्षित हो गए। इस प्रकार के प्रसंग भीतर की आंख खुलने से ही घटित हो सकते हैं।

आदमी के अन्तश्चक्षु को उद्घाटित करने वाले तीर्थंकर होते हैं। वे अपनी वाणी के द्वारा, उपदेश के द्वारा ऐसा रास्ता बताते हैं, ऐसी प्रेरणा देते हैं, जिससे भीतर की आंख खुल जाती है। धर्मगुरु, धर्माचार्य और साधु-साध्वियां भी आध्यात्मिक बातें बता कर जनता को भीतर की आंख खोलने का उपाय बताते हैं। आदमी यह चिन्तन करे कि मैं बाहर की आंख के साथ-साथ भीतर की आंख को भी खोलने का प्रयास करूं। उसके लिए किसी ऑपरेशन या दवा डालने की जरूरत नहीं है। उसके लिए तो आध्यात्मिक साधना की, शास्त्र-श्रवण की, ध्यान करने की अथवा सत्साहित्य का स्वाध्याय करने की अपेक्षा है। वह आदमी की भीतर की आंख खोलने में सहायक बन सकता है। धर्मग्रन्थों का पारायण करना साधना का एक सुन्दर प्रकार है। स्वाध्याय करते-करते कभी इतनी तन्मयता आ जाती है और एक ऐसा मार्ग मिल जाता है जो भीतर की आंख खोलने में और आगे बढ़ने में सहायक बनता है।

दुनिया में अनेक रास्ते हैं। आदमी गलत रास्ता चुन ले और उस पर चलना शुरू कर दे तो वह कहां से कहां पहुंच जाए? इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि रास्ते की पूरी जानकारी हो और व्यक्ति सही रास्ते पर चले तो अपनी मंजिल तक पहुंच सकता है। सही रास्ता कौनसा है? यह हर कोई नहीं जान सकता। इसलिए समाज में अथवा संसार में एक व्यवस्था है। धर्मगुरु मार्ग-दर्शक के रूप में व्यक्ति के सामने उपस्थित रहते हैं, क्योंकि उनमें स्वयं में प्रकाश है। जो स्वयंप्रकाशी होता है, वह परप्रकाशी हो सकता है। अर्हत् गुरु और सन्त-महात्मा अन्धकार को दूर करने वाले, सही रास्ता बताने वाले और अन्धकारमय रास्ते में प्रकाश करने वाले होते हैं। वे व्यक्ति के अन्तश्चक्षु को उद्घाटित करने वाले होते हैं। अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति भीतर की ओर देखने का प्रयास करे, संयम की दिशा में आगे बढ़े और अपनी ईप्सित मंजिल को प्राप्त करे।

२८

ज्ञान और आचार

जैन वाङ्मय में सुन्दर कहा गया—**पढमं नाणं तओ दया**—आदमी को पहले ज्ञान करना चाहिए। फिर सही ज्ञान के अनुसार आचरण करना चाहिए। यदि ज्ञान ठीक नहीं है तो आचरण भी ठीक होना मुश्किल है। आदमी के जीवन में ज्ञान और सदाचार का योग होना चाहिए। बालक-बालिकाओं को विद्यालयों में विभिन्न विषयों और भाषाओं का ज्ञान कराया जाता है। उसके साथ-साथ जीवन के बारे में, अध्यात्म के बारे में भी ज्ञान दिया जाए और वे तदनुसार आचरण करे तो जीवन में परिपूर्णता आ सकती है। सही ज्ञान तो हो, किन्तु आचार वैसा न हो अथवा आचार कुछ हो, किन्तु ज्ञान ठीक न हो तो जीवन में अधूरापन रहता है।

एक जंगल में दो व्यक्ति थे—एक लंगड़ा और एक अन्धा। अचानक जंगल में आग लग गई। लंगड़े व्यक्ति को यह दिखाई तो दे रहा था कि आग सामने से आ रही है, परन्तु वह चलने में अक्षम था। अन्धा व्यक्ति चलने में तो सक्षम था, किन्तु उसे दिखाई नहीं दे रहा था कि आग किधर से आ रही है और किधर जाना चाहिए? दोनों के लिए समस्या थी। दोनों ने आपस में बात की। लंगड़े व्यक्ति ने कहा—भाई प्रज्ञाचक्षु! मैं चल नहीं सकता और तुम देख नहीं सकते। हम दोनों के साथ समस्या है। तुम मुझे अपने कन्धे पर बिठा लो। मैं तुम्हें रास्ता बताता रहूंगा। तुम चलते रहना। इस प्रकार हम इस जंगल से पार हो जाएंगे। लंगड़ा और अन्धा—दोनों अपने-आपमें अधूरे थे। दोनों आपस में मिल गए तो परिपूर्णता आ गई। दोनों का बचाव हो गया। आदमी के जीवन

में भी ज्ञान और आचार का सम्यक् योग हो और उसका प्रभाव बच्चों पर भी पड़े।

यदि प्रारम्भ से ही बच्चों को माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक वर्ग द्वारा अच्छी सीख दी जाए तो विद्यार्थियों में अच्छे संस्कार आ सकते हैं। कभी कड़ाई तो कभी नरमाई, जो उपयुक्त हो, वैसा व्यवहार किया जाना चाहिए। बच्चे का लाड़-प्यार भी रखा जाता है तो कभी ताड़ना भी काम की होती है। संस्कृत साहित्य में नीति-श्लोक में कहा गया—

लालयेत् पंचवर्षाणि, दशवर्षाणि ताड़येत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे, पुत्रं मित्रमिवाचरेत्।।

पांच वर्ष तक के बच्चे का लाड़-प्यार करना चाहिए। पांच वर्ष के बाद लड़का बड़ा हो जाता है। फिर कभी-कभी गलती पर उपालम्भ भी देना चाहिए। उसे कभी डांटना भी चाहिए। जब लड़का सोलह वर्ष का हो जाए तब पिता को उसके साथ मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। उससे परामर्श लेकर काम करना चाहिए। नीतिशास्त्र में लाड़-प्यार को ठीक माना गया तो तर्जना को भी आवश्यक माना गया। लक्ष्य एक ही है कि बच्चों में संस्कार अच्छे रहें। अध्यापक-वर्ग, अभिभावक आदि ध्यान रखें कि बच्चों में नशे की वृत्ति न पनप जाए। उनमें झूठ बोलने की आदत न पड़ जाए, चोरी की वृत्ति न आ जाए। इतना ही नहीं, माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक वर्ग स्वयं अपने व्यवहार से, अपनी वाणी से, अपनी जीवन-शैली से बच्चों को संस्कार दें तो एक अच्छी पीढ़ी का निर्माण हो सकता है।

अनैतिकता और अनाचार के द्वारा जो पैसा कमाया जाता है, उस पैसे की महत्ता नहीं होती। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजांनृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरुर्जिताः संपदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसंभवा स्थूलता।।

धन का कम होना कोई खास बात नहीं है, किन्तु जीवन में सज्जनता का होना विशेष बात है। धन ज्यादा हो और सज्जनता न हो तो धन का अधिक होना बेकार है। उदाहरणार्थ—आदमी पतला हो तो कोई बुरी बात नहीं है, किन्तु सूजन से आया हुआ मोटापा ठीक नहीं है। एक छात्र ने अध्यापक से पूछा—सर! मैं मोटा होना चाहता हूं, क्या करना चाहिए? अध्यापक महोदय भी

मूड में थे। उन्होंने कहा—वत्स! मधुमक्खी के छत्ते को छेड़ो। मक्खियां काटेंगी, सूजन आ जाएगी और तुम मोटे बन जाओगे। जैसे आदमी का पतला होना कोई खास बात नहीं है, वैसे ही धन का कम होना कोई खास बात नहीं है। जैसे सूजन से आया हुआ मोटापा ठीक नहीं होता, वैसे ही अनैतिकता से कमाया हुआ धन काम का नहीं होता। इसलिए विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ही नैतिकता और सदाचार के संस्कार दिए जाएं। नैतिकता के संदर्भ में किसी कवि ने ठीक कहा है—

तुम पुण्य कार्य मत करो भले ही,
किन्तु करो मत पाप, पुण्य के फल को पा लोगे।
मत रटो राम का नाम भले ही,
किन्तु करो शुभ काम, राम के बल को पा लोगे।

जो व्यक्ति एक तरफ तो दान-पुण्य करता है और दूसरी तरफ भ्रष्टाचार करता है। उसे कहा गया है कि तुम भले ही दान-पुण्य आदि मत करो, किन्तु भ्रष्टाचार मत करो, बेईमानी मत करो। यही तुम्हारा पुण्य कार्य मान लिया जाएगा। जो व्यक्ति राम-नाम का जप करता है और साथ में गलत काम करता है, उस व्यक्ति को कहा गया कि तुम भले ही राम-नाम का जप मत करो, किन्तु अच्छे काम करो तो तुम्हें राम की शक्ति प्राप्त हो सकती है। आदमी अपने आचरण की ओर ध्यान दे। उसकी जीवन-बगिया सदाचार के सुमनों से सुरभित बनी रहे और उसके निकट आने वाले व्यक्ति को भी सुगन्ध प्राप्त होती रहे। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्, वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो, वृत्ततस्तु हतो हतः।।

दो शब्द हैं—वृत्त और वित्त। वृत्त का अर्थ है चरित्र और वित्त का अर्थ है धन। आदमी अपने चरित्र की रक्षा करे। धन तो आता है और चला जाता है। जिसके पास धन नहीं है वह व्यक्ति क्षीण नहीं होता, किन्तु जिसका चरित्र नष्ट हो गया तो समझना चाहिए कि वह आदमी एक प्रकार से मर गया। इसलिए आदमी को चरित्र-रक्षा का प्रयास करना चाहिए। अनीति के पथ पर चलने वाला व्यक्ति जीवन में सफल नहीं होता। एक व्यक्ति के पास गधा था। वह उस पर समान ढोता था। यदा-कदा वह उस पर नमक की बोरी रखा करता था। रास्ते में एक खाई आती थी। एक दिन वह गधा खाई को पार कर रहा था कि अचानक उस खाई में गिर गया। खाई में पानी था। पानी में नमक बह गया। जब वह वापस उठा तो बहुत हल्कापन महसूस कर रहा था। गधे ने

सोचा, यह तरीका अच्छा है, गिरने से भार हलका हो जाता है। दूसरे दिन भी उस पर नमक की बोरी रखी हुई थी। जैसे ही वह खाई आई, गधा जान-बूझ कर उसमें गिर गया। नमक पानी में बह गया और भार हलका हो गया। जब दो-तीन बार उसने वैसा ही किया तो मालिक समझ गया कि गधे की नीयत खराब हो गई है। एक दिन मालिक ने उस पर रुई की बोरी रखी। गधा तो आखिर गधा था, नादान था। जैसे ही खाई आई, वह उसमें गिर गया। पानी रुई में समा गया। इस बार जब वह उठा तो और ज्यादा भारी हो गया। अब तो उसके लिए चलना भी मुश्किल हो रहा था। मालिक ने भी उसको खूब पीटा। अब गधे को अक्ल आ गई कि भविष्य में ऐसा काम नहीं करूंगा। जो अनीति करता है वह जल्दी पकड़ में आए अथवा न आए, किन्तु जब पकड़ में आता है, उसका फल बहुत खराब मिलता है। इसलिए आदमी यह लक्ष्य बनाए कि मुझे अपने जीवन में बुराइयों से बचने का और अच्छाइयों को स्वीकार करने का प्रयास करना है। दुर्गुणों का वर्जन और सद्गुणों का अर्जन व्यक्ति को विकास की ओर ले जाने वाला होता है।

२१

आत्मविजेता

जैन वाङ्मय में दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं—**जिणाणं जावयाणं।** ये शब्द अर्हतों के लिए बहुत उपयुक्त हैं, क्योंकि वे स्वयं जीतने वाले हैं और दूसरों को जिताने वाले हैं। जो व्यक्ति स्वयं कमजोर है, पराजित है, शक्तिहीन है, वह दूसरों को कैसे जिता पाएगा? समर्थ व्यक्ति ही जयी या जिताने वाला हो सकता है। हां, कुछ व्यक्ति कुछ कार्यों में स्वयं असमर्थ होते हैं, किन्तु दूसरों को अभिप्रेरणा देकर उनसे काम करवा सकते हैं। जैसे—कई श्रावक स्वयं साधु नहीं बन सकते, किन्तु दूसरों को प्रेरणा देकर साधु बनने के लिए तैयार कर देते हैं। कुछ आचार्य भी ऐसे हो सकते हैं जो स्वयं कभी मोक्ष नहीं जाते, किन्तु उनके द्वारा दीक्षित साधु मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु सामान्यतया समर्थ व्यक्ति ही दूसरों की सहायता कर सकता है।

तीर्थंकर स्वयं जेता होते हैं, ज्ञानी होते हैं, इसलिए दूसरों को भी विजय का मार्ग दिखाने वाले और धर्मोपदेश प्रदान करने वाले होते हैं। किसी आदमी को जीतना आसान हो सकता है, किन्तु अपनी आत्मा को जीतना बहुत मुश्किल होता है। जैन शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है—

जो सहस्सं सहस्साण, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।।

दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतने की अपेक्षा जो व्यक्ति अपनी एक आत्मा को जीत लेता है, वह परम विजयी होता है। तीर्थंकर अपनी आत्मा को जीतने वाले होते हैं। अपनी आत्मा को जीतने के लिए सुन्दर निर्देश

दिया गया—**समया धम्ममुदाहरे मुणी।** मुनि ने समता में धर्म कहा है। जो व्यक्ति समता का अभ्यास करता है, वह स्वयं को जीतने की दिशा में, वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ सकता है। जिसके मन में राग-द्वेष की भावना है, विषमता है, चंचलता है, वह वीतरागता से विपरीत दिशा की ओर बढ़ने लगता है।

एक मालिक और सेवक, दोनों जा रहे थे। मालिक के पास एक बहुत सुन्दर घोड़ी थी। सेवक ने कहा—'मालिक! मैंने आपकी इतनी सेवा की है इसलिए उपहार-स्वरूप मुझे यह घोड़ी देंगे क्या?' मालिक ने कहा—'सेवक! घोड़ी तो तुम्हें दे दूंगा, लेकिन देने से पहले एक परीक्षा लूंगा। उसमें सफल हो जाओगे तो घोड़ी तुम्हें मिल जाएगी। परीक्षा यह है कि हम अगले गांव जा रहे हैं। उस गांव में पहुंचने तक तुम केवल 'राम' का नाम ही लेते रहना, और कुछ भी मत बोलना।' सेवक 'राम' का नाम रटने लगा। कुछ ही दूर आगे बढ़े, सेवक बोल उठा—'मालिक! घोड़ी के साथ लगाम भी दोगे न?' मालिक बोला—'अब न घोड़ी मिलेगी और न लगाम।' यह चंचलता, वाचालता आदमी को विपथगामी बनाने वाली होती है।

सामान्यतया आदमी के पास बुद्धि होती है, ज्ञान होता है, परन्तु विवेक की कमी रह जाती है। विवेक एक आंख है, वह नहीं होती है तो आदमी चाहे-अनचाहे गलत काम भी कर लेता है। बुद्धि के साथ शुद्धि हो, समझशक्ति हो और यह विवेक जागृत हो कि कौनसा काम करना चाहिए और कौनसा नहीं करना चाहिए? अपनी शक्ति का प्रयोग कहां करना चाहिए और कहां नहीं करना चाहिए? यह विवेक नहीं होता है तो शक्ति का दुरुपयोग भी हो सकता है, इसलिए आदमी अपने विवेक को जागृत करे। गलत एवं विध्वंसकारी कार्यों में अपनी शक्ति न लगाए। कल्याणकारी कार्यों में शक्ति का नियोजन करे।

आदमी में कमजोरियां होती हैं। किसी में झूठ बोलने की आदत होती है तो किसी में चोरी करने की। किसी में नशा करने की तो किसी में गुस्सा करने की। इन कमजोरियों से व्यक्ति स्वयं दुःखी बन जाता है। सन् २००० में मैं श्रीगंगानगर अंचल की यात्रा के लिए गया। मेरे साथ साधु-साध्वियां और समण-समणियां भी थीं। हम लोग पंजाब के सीमावर्ती क्षेत्र अबोहर में प्रवास कर रहे थे। एक लड़का मेरे पास आकर बोला—'महात्माजी! मैं बहुत दुःखी हूं।' मैंने पूछा—'क्या बात है?' लड़का—'एक लड़की के प्रति मेरे मन में अनुराग

हो गया है। मैं उसके साथ शादी करना चाहता हूं, किन्तु मेरे परिवार की स्थिति ऐसी है कि मैं उसके साथ शादी नहीं कर सकता, यह बात निश्चित है। फिर भी उसके प्रति इतना आकर्षण हो गया कि मन बेचैन रहता है।' मैंने कहा—'भोले भाई! तुम कहां फंस गए? जब तुम्हें यह पता है कि उसके साथ शादी नहीं हो सकती, फिर उसके प्रति राग-भाव क्यों रखते हो? इस बात को मन से निकालो, विचारों का रेचन करो, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी।'

आदमी बहुत होशियार है। वह कभी-कभी बाहर से तो हंसता है, प्रसन्न रहता है, किन्तु भीतर में रोता है, दुःखी रहता है। बुराइयों/कमजोरियों का छोड़ने वाला व्यक्ति आत्मविजेता के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

कमजोरियों को दूर करने में बहुत बड़े माध्यम बनते हैं—धर्मगुरु। ऐसे व्यक्ति तो विरले होते हैं, जिन्हें धर्मगुरु की आवश्यकता ही नहीं होती। भगवान महावीर जैसे महापुरुष स्वयं संबुद्ध होते हैं, स्वयं अपना पथ खोज लेते हैं, आगे बढ़ जाते हैं और मंजिल को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु सामान्यतया लोग धर्मगुरुओं के पास जाते हैं। उनकी वाणी सुनते हैं, उनसे मार्गदर्शन लेते हैं और कभी-कभी तो कोई बात ऐसी मिल जाती है कि आदमी के जीवन में परिष्कार घटित होने लगता है। आदमी को ऐसा धर्मगुरु मिल जाए, जो मानसिक आधियों और भावनात्मक उपाधियों से निजात दिला सके। आदमी भी हिंसा, झूठ, नशा, गुस्सा आदि से बचने का तथा मन को निर्मल और एकाग्र बनाने का सलक्ष्य प्रयास करे तो वह आत्मविजेता की दिशा में प्रस्थान कर सकता है।

३०

प्रमाद मत करो

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**उट्ठिए णो पमाइए**—जाग गए हो अब प्रमाद मत करो। जो अभी तक जागे नहीं हैं, उन्हें जागना चाहिए और जो जाग चुके हैं, उन्हें आलस्यवश, प्रमादवश वापस सोना नहीं चाहिए। हालांकि आदमी को शरीर से सोना भी होता है, परन्तु व्यक्ति भीतर से जागृत रहे। बाहर की नींद तो फिर भी यथावश्यक ली जा सकती है, किन्तु एक बार जब आदमी के भीतर की नींद टूट जाए, सम्यक् दर्शन प्राप्त हो जाए, बोधि प्राप्त हो जाए, उसके बाद सोना नहीं चाहिए। फिर तो जागृत अवस्था में रहकर अध्यात्म की लौ जगानी चाहिए। जीवन को अच्छा बनाने का और अच्छा रखने का प्रयास करना चाहिए। जीवन को अच्छा बनाने के लिए अध्यात्म में कई निर्देश दिए गए हैं।

पहला निर्देश दिया गया कि दुर्जन आदमी के सम्पर्क से दूर रहना चाहिए। जो व्यक्ति दुर्जन के सम्पर्क में आ जाते हैं अथवा उसकी बातों में आ जाते हैं, उनका जीवन खराब हो जाता है। दुर्जन व्यक्ति का तो स्नेह भी अच्छा नहीं होता। सज्जन व्यक्ति प्रायः गुस्सा नहीं करते हैं। यदि कभी गुस्सा करते भी हैं तो वह गुस्सा भी व्यक्ति के लिए हितकारी होता है और दुर्जन आदमी का स्नेह भी अहितकर हो जाता है। एक बार चार-पांच वर्ष का छोटा बच्चा बात-बात में गन्दी गालियां बोल रहा था। उसकी मां से पूछा गया कि तुम तो कुलीन महिला हो। अच्छे घराने की औरत हो। फिर तुम्हारे बच्चे ने गालियां कहां से सीख लीं? मां ने बताया कि मैं और बालक के पिता, हम दोनों तो

काम कर चले जाते हैं। बच्चा नौकर के पास रहता है। नौकर से गालियां सुन-सुनकर यह बच्चा भी सीख गया। इस प्रकार असज्जन आदमी के सम्पर्क में रहने से व्यक्ति की भाषा भी असभ्य बन जाती है। जिस प्रकार दुर्जन आदमी का सम्पर्क नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार दुस्साहित्य का भी संपर्क नहीं करना चाहिए। जो आदमी अश्लील साहित्य पढ़ता है, वह भी अपने जीवन को खराब कर सकता है। जैसे असज्जन आदमी का सम्पर्क खराब संस्कार देता है वैसे ही खराब साहित्य भी खराब संस्कार देता है। इसलिए खराब साहित्य के सम्पर्क में भी नहीं रहना चाहिए। खराब दृश्यों को भी नहीं देखना चाहिए। क्योंकि दृश्य भी आदमी के मन को प्रभावित करते हैं। टेलीविजन में अथवा अन्य माध्यमों से गन्दे दृश्यों को देखने से बचना चाहिए। मन शुद्ध रह सके, इसलिए दुर्जन व्यक्ति का संसर्ग छोड़ना चाहिए, खराब साहित्य और गन्दे दृश्यों से भी दूर रहना चाहिए।

दूसरा निर्देश दिया गया कि साधुओं की संगति करनी चाहिए। भारतीय साहित्य में सत्संग को बहुत महत्त्व दिया गया है। यहां तक कहा गया है कि **बिनु सत्संग विवेक न होइ**—सत्संग के बिना विवेक भी नहीं होता है। अच्छा ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी सज्जन व्यक्ति के सम्पर्क में रहना चाहिए। यदि त्यागी सन्त मिल जाएं तो उनकी संगति तो अवश्य करनी चाहिए। गुरु बोलकर ज्ञान दें, बहुत अच्छी बात है। यदि बोलकर न भी दें तो उनके पास बैठना अथवा दूर से देखना भी अच्छा है। उससे भी बहुत लाभ मिलता है। आदमी के अच्छे-बुरे बनने में संगति का बहुत प्रभाव पड़ता है। एक राजा घोड़े पर सवार होकर जंगल में जा रहा था। रास्ते में एक तोता बैठा हुआ था। राजा को देखते ही वह बोलने लगा—'इसे मारो, पकड़ो, लूटो।' कुछ और आगे बढ़ने पर फिर एक तोता मिला। वह राजा को देखते ही बोलने लगा—'स्वागतम्, स्वागतम्।' दो समान पक्षियों का विपरीत व्यवहार देखकर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने मधुरभाषी तोते से इसका कारण पूछा। तोते ने कहा—'राजन्! हम दोनों एक ही माता-पिता की सन्तान हैं। उसे चोरों का संसर्ग मिला, इसलिए वह मारो, पकड़ो, लूटो की भाषा बोलने लगा और मुझे इस पवित्र आश्रम में साधना करने वाले ऋषि-मुनियों का संसर्ग मिला।' दुर्जन के सम्पर्क से आदमी में गलत संस्कार आ सकते हैं। इसलिए आदमी को सज्जन की संगति करनी चाहिए।

तीसरा निर्देश दिया गया कि दिन-रात पुण्य करना चाहिए, यानी अच्छे काम करने चाहिए। कभी कोई बुरा कर भी दे तो उसे क्षमा कर देना चाहिए।

आदमी से जितना हो सके, दूसरों का भला करना चाहिए। दुनिया में अनेक प्रकार के आदमी होते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो दूसरों का बुरा करते रहते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनका बुरा करने पर, वे भी उसका बुरा करते हैं। ईंट का जवाब पत्थर से देते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनका बुरा करने पर भी वे उसका बुरा नहीं करते, भला करने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग ईंट का जवाब फूल से देने का प्रयास करते हैं। जिस व्यक्ति के चित्त में अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है, उसके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति के मन में यदि वैर-भाव होता है तो वह भी दूर हो सकता है।

राजा की सवारी जा रही थी। रास्ते में कुछ बच्चे खेल रहे थे। आस-पास अनेक पेड़ थे। एक लड़के ने पेड़ की ओर पत्थर फेंका, किन्तु वह राजा के सिर में लग गया। राजपुरुषों ने उस बच्चे को पकड़ लिया और पीटने लगे। राजा ने कहा—'इस बालक को पीटो मत, छोड़ दो। इसे मेरे पास लाओ।' बच्चा भयभीत हो गया। सोचा—भारी दण्ड मिलेगा। किन्तु राजा ने उस पांच रुपये दिए। राजपुरुषों ने कहा—'राजन्! आपने यह क्या किया? इसने आपको चोट पहुंचाई है, इसे तो दण्ड मिलना चाहिए।' राजा ने कहा—'जब यह पत्थर पेड़ के लगता तो बदले में पेड़ क्या देता?' राजपुरुष—'पेड़ तो फल देता।' राजा—'तो क्या मैं पेड़ से भी गया-बीता हूं?'

जो व्यक्ति बुरा करने वाले का भला करता है, वह व्यक्ति पुण्य-कार्य करता है। जो दुर्जन की संगति नहीं करता, सज्जन की संगति करता है और पुण्य-कार्य करता है वह अपने जीवन को अच्छा बना सकता है।

३१

स्वयं को उपयोगी बनाओ

आदमी का उत्पादन करना एक बात है और उसका निष्पादन करना दूसरी बात है। प्राकृतिक तरीके से तो आदमी का उत्पादन होता ही है, किन्तु अस्वाभाविक तरीकों से भी मनुष्यों का, प्राणियों का उत्पादन किया जाता रहा है। जैनाचार्य द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थ 'जोणि पाहुड़' में बताया गया है कि विशेष विधि से प्राणियों का उत्पादन किया जा सकता है। वहां एक उदाहरण मिलता है। भक्त राजा आचार्य के पास पहुंचा और निवेदन किया—'गुरुदेव! शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया है। उसकी सेना का सामना करने में असमर्थ हूं। आप समर्थ हैं। मेरे लिए शरणभूत हैं। इस संकट की स्थिति में आप ही त्राण दे सकते हैं।' आचार्य का दिल करुणा से भर गया। राजा के प्रति अनुराग का भाव आ गया। आचार्य विधियों के वेत्ता थे। एक विधि का प्रयोग किया। तालाब में कोई ऐसा द्रव्य डाला कि देखते ही देखते तालाब में से घुड़सवार निकलने लगे। हजारों घुड़सवार निकलते ही चले गए। शत्रु सेना घबरा उठी। सोचा, जिस राजा के पास इतनी विशाल सेना है, उसके सामने हम कैसे टिक पाएंगे? शत्रु सेना वहां से लौट गई और राजा का बचाव हो गया। एक विशेष विधि से घुड़सवारों को उत्पन्न कर दिया गया।

इसी प्रकार विधि-उत्पादन का एक उदाहरण और मिलता है। मध्य रात्रि का समय। आचार्य अपने शिष्यों को 'जोणि पाहुड़' की वाचना दे रहे थे। उस वाचना के अंतर्गत मत्स्यों का निर्माण और उनकी वृद्धि कैसे होती है? यह विधि बताई गई। संयोगवश उस मध्य रात्रि के समय कोई मछुआरा उधर से

गुजर रहा था। उसने सारी बात ध्यान से सुन ली और विधि को अच्छी तरह समझ लिया। मछुआरा सीधा तालाब के पास पहुंचा और विधि का प्रयोग किया। गांव का तालाब मछलियों से भर गया। प्रातःकाल आचार्य उसी रास्ते से पधारे रहे थे। मछलियों से भरा हुआ तालाब देखकर सोचने लगे—प्रायः मछलियों से शून्य रहने वाला तालाब आज भरा हुआ कैसे है? अनुमान लगा लिया कि कल रात्रि में मैंने शिष्यों को वाचना दी थी। काफी गोपनीयता के साथ वाचना देने पर भी, लगता है किसी ने बात सुन ली और उस विधि का प्रयोग किया है। परिणामतः तालाब मत्स्यों से भरा हुआ है।

आदमी का उत्पादन करना भी सामान्य बात नहीं, किन्तु उसका निर्माण करना, उसको उपयोगी बना देना बहुत विशेष बात है। मूल्यवान कौन होता है? जो उपयोगी होता है, वह मूल्यवान होता है। चाहे पदार्थ हो अथवा प्राणी। जिसकी उपयोगिता होती है, उसका मूल्य बढ़ता है, प्रतिष्ठा बढ़ती है। जो पदार्थ या प्राणी उपयोगिता-शून्य बन जाते हैं, उनका मूल्य भी प्रायः समाप्त हो जाता है और प्रतिष्ठा भी कम हो जाती है। गाय का विक्रय हो रहा था। गाय को खरीदने का इच्छुक एक व्यक्ति आया और मालिक से पूछने लगा—गाय कैसी है? यह कितना दूध देती है? आदि-आदि। मालिक ने कहा—महाशय! यह गाय दूध बिलकुल नहीं देती है और न ही सन्तान उत्पन्न करती है, किन्तु इसका चरित्र बहुत अच्छा है। उस आदमी ने कहा—जो गाय न दूध देने में समर्थ है और न ही अपनी परम्परा को चलाने में समर्थ है, उस गाय के अच्छे चरित्र से मुझे कोई मतलब नहीं है। उपयोगिता-शून्य गाय का अधिक महत्त्व नहीं होता। आदमी मात्र आकृति से आदमी हो, किन्तु उसमें उपयोगिता न हो तो जीवन में बहुत बड़ी कमी रह जाती है। आदमी को यह चिन्तन करना चाहिए कि मेरी उपयोगिता है या नहीं? यदि नहीं है तो उपयोगी बनने का प्रयास करे और यदि उपयोगिता है तो वह और अधिक वृद्धिंगत हो।

साधना के क्षेत्र में संघ का बहुत महत्त्व होता है। संघ में असहाय को सहारा मिल सकता है। कभी शारीरिक अस्वस्थता की स्थिति बन सकती है तो कभी मानसिक अस्वस्थता की स्थिति भी बन सकती है, ऐसी स्थितियों में दूसरों के आलम्बन की अपेक्षा रहती है। संघ में आलम्बन मिल सकता है, संभालने वाले मिल सकते हैं, प्रेरणा मिल सकती है। साधक यह चिन्तन करें कि संघ हमारा बहुत उपकारी है। हम संघ से सेवा ले रहे हैं, किन्तु हम संघ को क्या दे रहे हैं और क्या दे सकते हैं? संघ के लिए हम उपयोगी

कैसे बन सकते हैं? व्यवस्थागत निर्णय भी उपयोगिता के आधार पर किए जाते हैं।

कुछ वर्ष पहले की बात है। संघीय अपेक्षा से किसी साधु को कुछ समय के लिए बहिर्विहार में भेजना था। मैं गुरुदेव तुलसी के पास गया और अपना प्रस्ताव रखा—अमुक सन्त को बाहर भेजा जा सकता है। उस वक्त गुरुदेव ने जो बात फरमाई, वह मेरे लिए बोध पाठ बन गई। गुरुदेव ने कहा—'तुम्हारा सुझाव ठीक है किन्तु उसकी उपयोगिता यहां ज्यादा है। वह यहां अच्छा काम कर रहा है।' मुझे एक बोध पाठ मिल गया कि व्यक्ति को उपयोगी बनना चाहिए। अगर उपयोगिता है तो उसकी प्रतिष्ठा होती है, सम्मान मिलता है, कार्य करने का भी अवसर मिलता है।

धर्मसंघ में हमारी उपयोगिता बनी रहे, इसके लिए जरूरी है कि आदमी यह चिन्तन करे कि कोई ऐसी स्थिति न बन जाए, जिसके लिए संघ को सोचना पड़े। जितनी हो सके, संघ को सेवा देने का प्रयास करूं। मेरे द्वारा कोई असेवा का कार्य न हो जाए। एक साधक संघ में उपयोगी तभी बन सकता है जब संघ और संघपति के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव हो। संघीय जीवन में पारस्परिक संबंध भी होते हैं और कइयों के व्यक्तिगत संबंध भी बन सकते हैं। किन्तु संघीय व्यक्ति को यह चिन्तन करना चाहिए कि व्यक्तिगत संबंध एक सीमा तक हैं। संघ उससे भी बड़ा है। जहां संघहित का प्रश्न है, संघीय गरिमा का प्रश्न है, जहां व्यक्तिगत संबंध गौण हैं और संघहित मुख्य है। साधना के विकास के बिना इस प्रकार की संघीय भावना का जागना भी कठिन होता है।

हमने जिस गुरु-परम्परा को स्वीकार किया है, जिस व्यवस्था को स्वीकृत किया है, उसके प्रति भी हमारा पूर्ण समर्पण का भाव होना चाहिए। गुरु को जहां, जिसकी उपयोगिता नजर आए, उसको वहीं नियोजित करे, यही हमारे लिए श्रेयस्कर है। हमारी जितनी उपयोगिता बढ़ती है, हम उतनी ही अधिक संघ को सेवा दे सकते हैं। एक व्यक्ति बहुत सेवाभावी है। जहां कहीं सेवा की अपेक्षा हो, वह तैयार रहता है। वह सेवा की दृष्टि से बड़ा उपयोगी बन जाता है। एक व्यक्ति आगम-विशेषज्ञ है। आगमों के रहस्यों को जानने वाला है। कोई शोध-निबन्ध लिखवाना हो, चर्चा-वार्ता का प्रसंग हो तो आगम-विशेषज्ञ व्यक्ति तैयार रहता है। इस क्षेत्र में वह बहुत उपयोगी बन सकता है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति अपनी उपयोगिता को बढ़ा सकता है।

उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए योग्यता का विकास जरूरी है। जहां योग्यता, वहां उपयोगिता और जहां अयोग्यता वहां अनुपयोगिता। आदमी अपनी योग्यता का विकास करे और यह प्रयास करे कि वह आजन्म उपयोगी बना रह सके। संघ तो एक उदाहरण है, किसी भी समाज या क्षेत्र में रहने वाला व्यक्ति अपनी उपयोगिता के आधार पर अपना मूल्य बढ़ा सकता है।

३२

छोटे से भी सावधान रहो

जीवन में शक्ति का मूल्य होता है। आकार छोटा है या बड़ा, यह गौण बात है। सार कितना है, यह मूल बात है। आदमी शरीर से हृष्ट-पुष्ट होता है, मोटा दिखाई देता है, परन्तु शक्ति ज्यादा नहीं है। न ज्यादा तेज चल सकता है, न तेज दौड़ सकता है और न अतिश्रम कर सकता है, ऐसे बड़े अथवा मोटे आदमी का ज्यादा मूल्य नहीं होता। दुबला-पतला दिखाई देने वाला व्यक्ति भी अच्छा श्रम कर सकता है, फुर्ती के साथ काम कर सकता है, शक्ति का अच्छा उपयोग कर सकता है। ऐसे छोटे या दुबले आदमी का भी मूल्य होता है। आकार का महत्त्व कहीं-कहीं हो सकता है। ज्यादा महत्त्व प्रकार का होता है, सार का होता है। किसी को छोटा मान कर यदि उपेक्षा की जाए तो कभी-कभी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो सकती है प्राकृत साहित्य में कहा गया—

अणथोवं वणथोवं, अग्गिथोवं कसायथोवं च।
न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होई।।

ऋण, व्रण, अग्नि और कषाय—इन चारों को थोड़ा समझकर उपेक्षित नहीं करना चाहिए। ये थोड़े भी बहुत होते हैं। पहली बात है 'अणथोवं' अर्थात् ऋण को कभी थोड़ा नहीं मानना चाहिए। आज थोड़ा है, किन्तु ब्याज बढ़ते-बढ़ते कभी भारी-भरकम बन सकता है। व्यक्ति को जल्दी-से-जल्दी ऋणमुक्त बनने का प्रयास करना चाहिए। ऋण पैसों का भी हो सकता है और कर्मों का भी हो सकता है। कर्मों का कर्जा तो पैसों के कर्जे से भी भारी होता है। अगर जीवन में कोई पाप हो गया, दोष लग गया तो उसका जल्दी-से-जल्दी शोधन

हो जाए, प्रायश्चित्त किया जाए। प्रायश्चित्त का प्रथम सोपान है—आलोचना। आलोचना के लिए आवश्यक है ऋजुता। यदि ऋजुता नहीं है तो आलोचना सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकती। गुरुदेव तुलसी बहुधा फरमाया करते थे कि किसी से गलती हो गई हो तो होशियारी से नहीं, भोले बालक की तरह गुरु के सामने आलोचना करनी चाहिए। होशियारी का क्षेत्र अपना अलग हो सकता है। आदमी में यह विवेक होना चाहिए कि कहां होशियारी काम में लेनी चाहिए और कहां ऋजुता का प्रयोग करना चाहिए। जहां आलोचना का प्रसंग हो, वहां ऋजुतापूर्ण होशियारी हो सकती है। मात्र चतुराई नुकसानदेह हो सकती है। व्यक्ति सरलता के साथ आलोचना करे और जो प्रायश्चित्त गुरु से प्राप्त हो, उसे सहर्ष स्वीकार करे।

इसके साथ एक और संकल्प जाग जाए कि मैं दोषों की पुनरावृत्ति नहीं करूंगा। अतीत में मैंने जिस दोष का सेवन किया, उसे दुबारा आचरित नहीं करूंगा। पुनः गलती न करने का संकल्प जाग जाए जो प्रायश्चित्त अधिक सार्थक सिद्ध हो सकता है। अतः आदमी ऋण को थोड़ा न माने। वह थोड़ा भी बहुत होता है। ऋण चाहे धन का हो अथवा कर्मों का, आदमी ऋणमुक्त रहने का, ऋण से उऋण बनने का प्रयास करे।

दूसरी बात है 'वणथोवं' अर्थात् व्यक्ति व्रण को छोटा न माने। छोटा-सा व्रण भी भयंकर रूप लेकर घातक सिद्ध हो सकता है। व्रण दो प्रकार के हो सकते हैं। अन्तर्व्रण और बाह्यव्रण। अन्तर्व्रण में अहंकार का व्रण हो सकता है, माया का भी व्रण हो सकता है, क्रोध और लोभ का भी व्रण हो सकता है। इन व्रणों का शोधन होना चाहिए। यदि आदमी के भीतर अहंकार का भाव अधिक है तो मृदुता और नम्रता के द्वारा उसे कम अथवा दूर किया जा सकता है। यदि माया का भाव अधिक है तो आर्जव के द्वारा उसे कम किया जा सकता है। यदि क्रोध और लोभ का भाव अधिक है तो क्षमा और संतोष के द्वारा उसे कम किया जा सकता है। यदि व्यक्ति के कला-नैपुण्य है, अन्य अनेक विशेषताएं हैं, किन्तु साथ में अहंकार आदि भी ज्यादा हैं तो जीवन में एक धब्बा-सा लग जाता है, बहुत बड़ी खामी आ जाती है। इन छोटे-छोटे व्रणों को दूर कर व्यक्ति बड़ा बन सकता है।

आदमी में व्रणों को दूर करने का दृढ़ संकल्प हो तो नम्रता, ऋजुता, संतोष और क्षमा के द्वारा अन्तर्व्रणों का शोधन किया जा सकता है और उपचार आदि के द्वारा बाह्यव्रण को भी दूर किया जा सकता है।

तीसरी बात बताई गई 'अग्गिथोवं' अर्थात् अग्नि को थोड़ा अथवा छोटा नहीं समझना चाहिए। एक चिनगारी भी भयंकर आग का रूप धारण कर सकती है। वह हवा के साथ मिल कर समूचे जंगल को जला सकती है।

गांव के किनारे एक बाबा अपनी झोंपड़ी में बीड़ी पी रहा था। कुछ ही देर में झोंपड़ी जल कर राख हो गई। आस-पास के जंगल को जलाती हुई अग्नि ने भयंकर रूप धारण कर लिया। गांव के लोगों को जब पता चला तो वे शीघ्र वहां आए और आग बुझाने का प्रयास करने लगे। उन्होंने देखा, एक बाबा इधर से उधर बार-बार घूम रहा है। लोगों ने पूछा—बाबा! आपने यहां कुछ गिराया था क्या? बाबा—मैंने तो बीड़ी का एक छोटा-सा टुकड़ा गिराया था। एक छोटे-से टुकड़े ने कितनी विशाल तृण-राशि को भस्म कर डाला।

इन तीनों की भांति कषाय को भी छोटा या कम नहीं समझना चाहिए। कषाय का सूक्ष्मांश भी राग-द्वेष की परम्परा को चलाने वाला होता है। बात-बात में किसी के साथ अप्रिय व्यवहार हो सकता है। कभी-कभी एक बार का अप्रिय व्यवहार भी दिल को ठेस पहुंचा सकता है और वर्षों के बने हुए संबंधों को क्षण-भर में समाप्त कर सकता है।

महाभारत का युद्ध इस बात का साक्षी है। पाण्डवों ने बहुत सुन्दर राजप्रसाद का निर्माण करवाया और अपने भाई कौरवों को आमंत्रित किया। प्रासाद का फर्श दृष्टिभ्रम पैदा करने वाला था। कौरवों ने जैसे ही प्रासाद में प्रवेश किया तो उन्हें लगा कि यहां तो पानी है। उन्होंने अपने कपड़े ऊपर कर लिये ताकि पानी में भीग न जाएं। किन्तु वह तो दृष्टिभ्रम था। वहां पानी था ही नहीं। कुछ और आगे बढ़ने पर चौक पानी से भरा हुआ था, किन्तु वहां पानी नजर ही नहीं आ रहा था। इस बार कौरवों के कपड़े भीग गए। प्रासाद में ऊपर अवस्थित द्रौपदी ने जब ये दोनों दृश्य देखे तो उसे हंसी आ गई और कहा—'अन्धे के पुत्र अन्धे ही होते हैं।' द्रौपदी की इस व्यंग्यात्मक वाणी ने दुर्योधन के मर्म पर वह घाव किया, जो उसको आजन्म अपमान एवं प्रतिशोध की अग्नि में जलाता रहा।

क्रोध, लोभ, अहंकार आदि कषाय आत्मगुणों को नष्ट करने वाले होते हैं। यह कषाय ही भवभ्रमण का मूल कारण बनता है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।।

अनिगृहीत क्रोध और मान, प्रवर्धमान माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं। यह कषाय ही आत्मा को संसारोन्मुख बनाता है। आदमी यह प्रयास करे कि अनुदित कषाय का निरोध और उदय प्राप्त कषाय का विफलीकरण हो सके।

स्वामी रामतीर्थ, जो गणित के बहुत बड़े प्रोफेसर थे, अमेरिका से लौट रहे थे। बीच में हांगकांग में अपने मित्र के घर ठहरे। उस समय वहां अधिकतर मकान लकड़ी के बने हुए थे। रात्रि में अचानक पड़ोस में भयंकर आग लग गई। अनेक लोग आग बुझाने के लिए वहां पहुंच गये। घर से सामान बाहर निकाला गया। कुछ देर बाद किसी ने पूछा—मकान-मालिक कहां है? जवाब मिला—उसे तो बाहर निकालना ही भूल गए। स्वामी रामतीर्थ अपनी डायरी में लिखते हैं—'सामान बचा लिया गया, मालिक जल कर राख हो गया।'

जिस प्रकार मालिक की सुरक्षा के बिना सामान का बचना ज्यादा महत्त्व नहीं रखता, उसी प्रकार आत्मगुणों की सुरक्षा के बिना मात्र शरीर का पोषण अधिक महत्त्व नहीं रखता है। शरीर-धारण का लक्ष्य तो 'अत्तहियट्ठयाए' होना चाहिये, कषायों से आत्मा को बचाने का होना चाहिए। किन्तु जब तक सही दृष्टि प्राप्त नहीं होगी, अध्यात्म की दृष्टि नहीं मिलेगी, तब तक आत्मा न तो पापों से बच सकेगी और न ही ऊर्ध्वगामी बन सकेगी।

आदमी ऋण ये उऋण बनने का, व्रण से स्वस्थ रहने का, अग्नि से सुरक्षित रहने का और कषाय से अप्रभावित रहने का संकल्प और प्रयास करे। सही दिशा में किया गया प्रयास अवश्य ही वीतरागता का पथ प्रशस्त कर सकेगा।

३३

ज्ञान बड़ा या आचार

शिष्य ने गुरु के पास जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा—भंते! ज्ञान बड़ा होता है या आचार? पहले ज्ञान की आराधना करनी चाहिए या आचार का पालन? गुरु ने समाधान की भाषा में कहा—वत्स! अपेक्षा-भेद से दोनों बड़े हैं। कहीं ज्ञान बड़ा है तो कहीं आचार। जहां ज्ञान को महत्त्व दिया गया, वहां कहा गया—'पढमं नाणं तओ दया' पहले ज्ञान फिर दया, आचार आदि। यहां ज्ञान का मतलब है, सम्यक् ज्ञान। यदि ज्ञान सम्यक् नहीं है तो आचार सम्यक् हो नहीं सकता। जैन तत्त्वज्ञान में बताया जाता है कि संसारी जीव के दो प्रकार हैं—भव्य जीव और अभव्य जीव। अभव्य जीव कभी मोक्ष नहीं जा सकता। वह मोक्षगमन के लिए सर्वथा अयोग्य होता है। उसे कभी भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता। अभव्य जीव ग्रन्थि भेदन में समर्थ नहीं होता। तीर्थंकरों, मुनियों की ऋद्धि-विशेष को देखकर वह दीक्षित हो सकता है, अन्य किन्हीं कारणों, निमित्तों से दीक्षित हो सकता है। साधु के निर्धारित आचार का पालन कर लेता है। आचार्यपद पर भी सुशोभित हो जाता है। यहां तक ही नहीं, अपने हाथों से सैकड़ों मुमुक्षुओं को दीक्षित कर देता है और वे दीक्षित मुनि मोक्ष भी चले जाते हैं, किन्तु स्वयं कभी मोक्ष नहीं जा सकता, क्योंकि वह अभव्य है। उसके पास सम्यक् ज्ञान नहीं है। सम्यक् ज्ञान के अभाव में वह द्रव्यतः साध्वाचार का पालन कर सकता है, किन्तु भावतः नहीं। इसलिए उसे कभी मोक्ष नहीं मिल सकता। वन्ध्यापुत्र के समान उसके मोक्षगमन की कल्पना निरर्थक हो जाती है। गुणस्थानों के क्रम में भी चौथे गुणस्थान में ही सम्यक्

ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। जबकि सम्यक् आचार पांचवें गुणस्थान से शुरू होता है। ज्ञान के अभाव में किया गया आचार का पालन बहुत फलदायी नहीं होता।

अहिंसा एक आचार है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ईमानदारी आदि भी आचार हैं। पहले अहिंसा आदि को समझना होगा। तत्पश्चात् ही उनका पालन किया जा सकता है। एक नवदीक्षित मुनि को गोचरी करने (भिक्षा-विधि) का ज्ञान ही नहीं है, वह गोचरी कैसे करेगा? उसे पहले गोचरी के नियमों को समझाया जाता है, तब वह गोचरी के लिए अर्ह हो सकता है, गोचरी कर सकता है। यहां ज्ञान मूल है। आचार नम्बर दो की बात है। यह एक सिद्धान्त है। एक दूसरा सिद्धान्त इसके विपरीत है। उसमें यह कहा जाता है कि ज्ञान होना कोई खास बात नहीं, आदमी का आचार अच्छा होना चाहिए। आचार ठीक है तो सब ठीक है। दशवैकालिक सूत्र के नौवें अध्ययन में बताया गया है—

पगईए मंदा वि भवंति एगे, डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया।
आयारमंता गुणसुट्ठिअप्पा, जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा।।

कुछ आचार्य छोटी अवस्था में भी ज्ञान-सम्पन्न होते हैं तो कुछ आचार्य बड़ी अवस्था होने पर भी मन्द होते हैं, उनमें बाहुश्रुत्य का विकास नहीं होता। ज्ञान की अधिकता नहीं होती, फिर भी वे आचार-संपन्न हैं, तो उनकी अवहेलना करना खतरनाक होता है। आचार-सम्पन्न आचार्य की अवहेलना करने से शिष्य वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे अग्नि में ईंधन। आचार-प्रधान हों तो भले ही उनमें श्रुत कम हो, फिर भी वे आचार्यपद के योग्य होते हैं। यहां आचार को प्रमुख स्थान दिया गया है और ज्ञान को गौण माना गया है। आचार्य तुलसी भी आचार को मुख्यता देते हुए लिखते हैं—

है रुपया निन्यानवे, विमल विनय आचार।
शेष एक रुपया रहा, विद्या काल प्रचार।।

१०० रुपयों की नौली में ९९ रुपये तो आचार के होते हैं और एक रुपया ज्ञान आदि का होता है। यहां ज्ञान का मतलब है, विभिन्न विषयों का ज्ञान। एक आदमी के पास सम्यक् ज्ञान है और आचार भी है, किन्तु व्यापक ज्ञान नहीं है। वह अंग्रेजी को अच्छी तरह नहीं जानता। हिन्दी भाषा पर भी पूरा अधिकार नहीं है। विज्ञान के बारे में भी खास कुछ नहीं जानता। गणित में भी बहुत कमजोर है और न ही उसके पास अच्छा वक्तृत्व है। विभिन्न विधाओं का

ज्ञान न होने के बाद बावजूद भी वह अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। यहां तक कहा गया कि एक साधु को बहुत सीमित ज्ञान है। वह महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि के बारे में तो जानता है, किन्तु बहुश्रुतता उसके पास नहीं है। ज्ञान की अल्पता की स्थिति में भी वह १२वें गुणस्थान तक पहुंच जाता है। १२वें गुणस्थान के ठीक बाद उसे केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। यहां यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान की अल्पता होते हुए भी वह आचार के द्वारा इतना आध्यात्मिक विकास कर लेता है जिससे केवलज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

गम्भीरता से चिन्तन करने पर लगता है कि ज्ञान और आचार एक ही वस्तु के दो भाग हैं। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। जहां सम्यक् ज्ञान की चर्चा की जाती है, वहां ज्ञान का स्थान प्रथम हो जाता है और आचार का दूसरा। जहां विभिन्न विधाओं के सन्दर्भ में ज्ञान की चर्चा की जाती है, वहां आचार का स्थान प्रथम होता है और ज्ञान का दूसरा।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति के पास सम्यक् ज्ञान है। जो जैसा है उसे उसी रूप में समझता है, फिर भी ज्ञान के अनुरूप आचरण नहीं कर पाता। सही और गलत को जानते हुए भी गलत काम कर लेता है, अपराध कर लेता है।

बहुत वर्षों पहले एक कथानक पढ़ा था। एक गांव में महात्माजी रहते थे। उन्हें अनेक भाषाओं और विधाओं का ज्ञान था। किन्तु जीवन में सरलता, निश्छलता, ईमानदारी नहीं थी। लोगों के सामने आचार की बड़ी-बड़ी बातें करते थे। उपदेश देते थे। मांस खाना पाप है, अण्डा खाना गलत है, परन्तु स्वयं हमेशा मछली खाते थे। महात्माजी रोज सवेरे अंधेरे में घूमने जाते और साथ में मछली ले आते। एक दिन भ्रमण करके वापस आने में देरी हो गई। रास्ते में एक मुंहलगा भक्त मिल गया। उसने देखा—महात्माजी ने कांख में कुछ छुपा रखा है। भक्त ने पूछ लिया—बाबाजी! कांख में क्या छुपा रखा है? बाबाजी ने सोचा, आज तो मेरा पर्दाफाश हो जाएगा। असलियत को छुपाते हुए कहा—यह तो मेरी पुस्तक है। भक्त—इसमें से पानी जैसा क्या टपक रहा है? महात्मा—रामचरित्र महाकाव्य का सार टपक रहा है। भक्त—यह पूंछ जैसी क्या दिखाई दे रही है? महात्मा—यह ताड़पत्र है। भक्त—यह रंग जैसा क्या है? महात्मा—रामायण गौड़ाक्षर लिपि में लिखी गई है इसलिए रंगीन है। भक्त—बाबाजी! इसमें गन्ध किसकी आ रही है? महात्मा—भक्त! यह सजीव पुस्तक है। राम-रावण के महासंग्राम में बहुत-से लोग मारे गए, यह उन्हीं की

गन्ध आ रही है। इतने में महात्माजी का हाथ हिला और मछली निकल कर नीचे गिर गई। इसी बात को संस्कृत श्लोक में कहा गया—

कक्षे किं वद पुस्तकं किमुदकं काव्यस्य सारोरसः,
पुच्छः किं ननु ताड़पत्रलिखितं चित्रं च गौड़ाक्षरम्।
गन्धः किं ननु रामरावणमहासंग्रामगंधोत्करः।
भूयः किं ननु पृच्छ्यते शृणु सखे! संजीवनं पुस्तकम्।।

जहां आचार की निर्मलता होती है वहां यथार्थ को स्वीकार किया जाता है, छुपाया नहीं जाता। दुनिया में अनेक प्रकार का ज्ञान है और अनेक प्रकार का आचार है। आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में उसी ज्ञान और आचार का महत्त्व है जिससे व्यक्ति राग से विराग की ओर प्रस्थान कर सके। सबके साथ मैत्री-भाव का विकास हो सके। कल्याणकारी कार्यों में आगे बढ़ सके। ज्ञान की समीचीनता व आचार की निर्मलता के द्वारा साधक अपनी साधना को सफल बना सकता है।

३४

धर्मार्जित व्यवहार

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है–**धम्मज्जियं च ववहारं**–आदमी को धर्मयुक्त व्यवहार करना चाहिए। जो व्यवहार मनीषियों या महान् लोगों द्वारा आचीर्ण है, उस व्यवहार को करने वाला व्यक्ति कभी गर्हा को प्राप्त नहीं होता। जहां सामूहिक जीवन होता है, वहां व्यवहार भी आवश्यक होता है। संस्कृत शब्दकोश में दो शब्दों का प्रयोग किया गया है–समज और समाज। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने इन दोनों शब्दों का अन्तर बताते हुए लिखा है–'समजस्तु पशूनां स्यात् समाजस्त्वन्यदेहिनाम्।' पशुओं के समूह को समज कहा गया और मनुष्यों के समूह को समाज कहा गया। जहां समज है, वहां व्यवहार जैसी कोई बात नहीं होती, किन्तु जहां समाज है, वहां परस्पर व्यवहार निभाना अनिवार्य हो जाता है।

हम व्यवहार के धरातल पर देखें, मजदूर का काम मालिक से चलता है और मालिक का काम मजदूर से चलता है। मालिक को मजदूर से श्रम मिलता है और मजदूर को मालिक से वेतन मिलता है। व्यक्ति भोजन करता है। वह रोटी खाता है। यदि चिन्तन किया जाए तो पता चलता है कि एक रोटी को तैयार करने में कितने व्यक्तियों का समय और श्रम लगता है तब वह रोटी खाने योग्य बनती है। सबसे पहले किसान ने खेती की। वर्षा, धूप व प्रकृति ने सहयोग किया। अनाज उत्पन्न हुआ। फिर उसकी कटाई हुई। किसी के द्वारा वह अनाज मण्डी में लाया गया। व्यापारी ने उसे बेचा। ग्राहक ने अनाज खरीदा। किसी ने अनाज पीसा। किसी ने

उसकी रोटी बनाई। तब वह किसी के खाने के काम आती है। आदमी कपड़ा पहनता है। उस कपड़े के निर्माण में कपास से कपड़ा बनने तक की प्रक्रिया में ही कितने व्यक्तियों का श्रम लगता है, तब वह किसी के पहनने के काम आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आदमी का जीवन सापेक्षता पर आधारित है। जहां एक-दूसरे के सहयोग से काम चलता है वहां आदमी में यह चेतना जागृत हो कि हमारा व्यवहार धर्मार्जित हो, धर्मयुक्त हो ताकि व्यक्ति शान्ति व अमन-चैन के साथ अपना जीवनयापन कर सके।

जहां पारस्परिक व्यवहार मृदुता व हितैषितापूर्ण होता है, वहां धर्मार्जित व्यवहार हो सकता है, किन्तु जहां कठोर व्यवहार होता है, वहां धर्मार्जित व्यवहार को कायम रखने में बाधा उत्पन्न हो सकती है। इसलिएए धर्मार्जित व्यवहार के लिए तीन सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं–

१. अनाग्रही चेतना का विकास

२. परार्थ चेतना का विकास

३. हित चेतना का विकास

अनाग्रही चेतना का विकास

धर्मयुक्त व्यवहार के लिए अनाग्रह की चेतना का विकास बहुत आवश्यक होता है। किन्तु कहीं-कहीं आग्रह भी काम का होता है। जैसे–एक साधु का यह नियम होता है वह कभी सावद्य कार्य नहीं करता। इसके प्रति तो उसका आग्रह होना ही चाहिए कि चाहे कुछ भी हो जाए, पर मैं कभी पापकारी कार्य नहीं करूंगा। इस आग्रह की तुलना श्रद्धा, निष्ठा और नियम के प्रति कट्टरता के साथ की जा सकती है। किन्तु वह कट्टरता वांछनीय नहीं होती जिसके द्वारा हिंसा आदि को महत्त्व दिया जाता है। आदमी एक बात को सत्य मानकर स्वीकार करता है, पर जब वह असत्य प्रतीत होने लगे तो उसे छोड़ने में संकोच भी नहीं होना चाहिए।

घर-परिवार में खान-पान संबंधी आग्रह भी चलता है। एक व्यक्ति यह आग्रह करे कि अमुक प्रकार का भोजन ही बनाना होगा, तो परिवार में अशान्ति हो जाती है। घर में वह अकेला तो है नहीं, सबकी रुचि का ध्यान रखना होता है। कभी एक व्यक्ति की रुचि का खाना बन सकता है तो कभी

दूसरे की रुचि के अनुसार भी खाना बन सकता है। इन बातों में अनाग्रह होना चाहिए। कभी-कभी आदमी बिना कारण ही आग्रह कर लेता है। एक किसान ने कहा—'यदि कोई व्यक्ति पचास और पचास का जोड़ सौ सिद्ध कर दे तो मैं उसे अपनी भैंस दे दूंगा।' किसान की पत्नी ने घबराकर कहा—'कैसी पागलपन की बात करते हो? पचास और पचास तो सौ ही होते हैं। भैंस देकर क्या बच्चों को भूखा रखोगे?' किसान ने कहा—'घबराने की जरूरत नहीं है। पचास और पचास सौ ही होते हैं यह तो मैं भी जानता हूं, किन्तु मैं किसी के सामने 'हां' करूंगा तभी हो भैंस लेगा। मैं तो 'ना' ही करता रहूंगा कि पचास और पचास सौ होते ही नहीं हैं, फिर वह भैंस कैसे लेगा?' जो इस प्रकार का मिथ्या आग्रह करता है, वह कभी सत्य का मक्खन प्राप्त नहीं कर सकता। उसे तो केवल खट्टी छाछ ही मिलती है। यह खट्टी छाछ धमार्जित व्यवहार की बाधक भी बन सकती है। इस बाधा को दूर करने के लिए व्यक्ति आग्रह वृत्ति को छोड़े और अनाग्रह की चेतना का विकास करे।

परार्थ चेतना का विकास

सबका भला हो, कल्याण हो, शुभ हो—जहां इस प्रकार का चिन्तन किया जाता है। वहां शान्तिपूर्ण अस्तित्व कायम रह सकता है, किन्तु जहां केवल अपने स्वार्थ के लिए कार्य किया जाता है, वहां शान्त सहवास में बाधा उत्पन्न हो जाती है। सभी संबंधों को गौण करके जो स्वार्थ दृष्टि को प्रमुखता देता है। वह शान्ति को भंग करने वाला और पग-पग पर विषमता को उत्पन्न करने वाला होता है। इस स्वार्थी दुनिया में जिससे स्वार्थ सिद्ध होता है, उसके लिए नियम कुछ अलग होते हैं और जिससे स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, उसके लिए नियम कुछ भिन्न होते हैं। किन्तु जहां स्वार्थ गौण होता है, वहां सबके लिए समान नियम होते हैं, क्योंकि वहां सबके प्रति विश्वास होता है। वे व्यक्ति महान् होते हैं, जो स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ के लिए सोचते हैं, कार्य करते हैं। राजर्षि भर्तृहरि ने 'नीति-शतकम्' में इन्हीं तथ्यों को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।।

कुछ सज्जन पुरुष ऐसे होते हैं, जो अपना हित छोड़कर दूसरों का कार्यसाधन करते हैं। जो अपने हित की रक्षा करते हुए दूसरों के लिए उद्योग करते हैं, वे साधारण लोग हैं। जो स्वार्थ के लिए परहित को नष्ट करते हैं, वे नर-पिशाच हैं। किन्तु जो बिना कारण दूसरों के हित को नष्ट करते हैं, वे कौन हैं? नहीं जानते। स्वार्थ से परमार्थ की दिशा में बढ़ने के लिए आवश्यक है—परार्थ चेतना का विकास। जहां दूसरे के हित की चिन्ता होती है वहां शान्त सहवास होता है।

हित चेतना का विकास

यह विश्व बहुत बड़ा है। इस विशाल विश्व के सभी प्राणियों का हित-कार्य साधा जा सके, यह असंभव लगता है, किन्तु कम-से-कम अपने साथ रहने वालों का हित करने का प्रयास किया जा सकता है। जब यह हितैषिता की भावना प्रगाढ़ बनती है तो शान्त सहवास रह सकता है। जहां अनेक व्यक्ति साथ रहते हैं, किन्तु एक-दूसरे का सहयोग नहीं करते, वहां अशान्ति उत्पन्न हो जाती है।

एक जैनाचार्य के अनेक शिष्य थे। उनमें से एक शिष्य बीमार हो गया। बीमार व्यक्ति को सेवा और सहानुभूति की आवश्यकता होती है। सेवा और सहानुभूति के अभाव में व्यक्ति का मन विचलित हो जाता है। वह मुनि संभवतः किसी छूत की बीमारी से आक्रान्त था। इसलिए अन्य साधुओं ने उसकी उपेक्षा करनी शुरू कर दी। उसके पास उठना-बैठना, जाना-आना, बातचीत करना कम कर दिया। उस रुग्ण मुनि का मन अस्थिर हो गया। उसने सोचा—कुछ ठीक हो जाऊं, फिर इस संघ से अलग हो जाऊंगा। जब आचार्य को इस स्थिति का पता चला तो वे तत्काल उस मुनि के पास आए और पूछा—'वत्स! क्या बात है?' शिष्य—'गुरुदेव! मैं बीमार हो गया। ये सन्त न मेरी विशेष सेवा करते हैं, न मेरे पास बैठते हैं, न बातचीत करते हैं और न मेरे साथ आहार करते हैं। मेरा मन असमाधिस्थ हो गया है। मैं साधु-संस्था से मुक्त होना चाहता हूं।' आचार्य ने सोचा, एक शिष्य सेवा-सहयोग और आत्मीयता के अभाव में संघ से अलग हो, यह मेरे लिए चिन्तन का विषय है। गुरु ने कहा—'वत्स! आज मैं तुम्हारे साथ आहार करूंगा।' यह सुनकर रुग्ण मुनि ने सोचा, जब संघ के सर्वेसर्वा आचार्य मेरे साथ आहार करने के लिए तैयार हैं, इससे बड़ी बात क्या होगी? अन्य साधुओं को भी बोधपाठ मिल गया। सबका व्यवहार बदल गया। एक-दूसरे

के हित की चिन्ता न हो, सुख-दुःख में कोई सहयोग न किया जाए तो फिर एकात्मकता भी नहीं रह सकती और आत्मीयता भी समाप्त हो जाती है।

धर्मार्जित व्यवहार के लिए अनाग्रह, परार्थ और हित चेतना का विकास होना जरूरी है। जहां ये तीनों बातें होती हैं वहां संबंध अच्छे रह सकते हैं, व्यवहार अच्छा हो सकता है और व्यक्ति शान्ति के साथ जी सकता है।

३५

सेवाभाव

समाज में एक-दूसरे को जोड़ने वाला और परस्पर मधुर संबंध स्थापित करने वाला तत्त्व है—सेवाभाव। जहां अनेक व्यक्ति साथ रहते हैं, वहां एक-दूसरे की अपेक्षा भी रहती है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में एक सुन्दर सूत्र प्रस्तुत किया है—**'परस्परोग्रहोऽजीवानाम्।'** प्राणियों का एक-दूसरे के आलम्बन से काम चलता है। इस दुनिया में पूर्णतया निरपेक्ष होकर जीना असंभव-सा लगता है।

मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसके जीवन में भी कितनों की सापेक्षता रहती है, तब कहीं वह जीवन जी सकता है। उदाहरणस्वरूप मेरे हाथ में एक डायरी है, जो मेरे काम आ रही है। इसमें भी कितनों का योग लगा है, तब लेखन के योग्य सिद्ध हो रही है। कहीं कागज तैयार हुए होंगे। किसी ने उन कागजों को डायरी के रूप में गठित किया होगा। किसी ने उसको खरीदा होगा। फिर हमने अथवा किसी साधु-साध्वी ने गृहस्थ से प्राप्त किया होगा। तब कहीं जाकर मैं इस डायरी का उपयोग कर रहा हूं। इसी प्रकार रोटी, कपड़ा आदि के निष्पन्न होने में भी अनेक व्यक्तियों का समय और श्रम लगता है, तब वह भोग्य अथवा उपभोग्य बनता है। एक-दूसरे के सहयोग परस्परता और सेवाभाव के बिना कठिनाई पैदा हो सकती है। गुरु और शिष्य में भी परस्परता रहती है। गुरु शिष्य को ज्ञान देता है, वात्सल्य देता है, संस्कार देता है और उस पर अनुशासन करता है तो शिष्य भी गुरु की सेवा करता है, विनय करता है, सम्मान देता है और उनकी आज्ञा में रहता है। इस प्रकार गुरु और शिष्य

का परस्पर सापेक्ष जीवन होता है। कोई यह कहे कि मुझे तो किसी की भी जरूरत नहीं है, यह निरपेक्ष बात नहीं हो सकती। जहां जीवन है, वहां पदार्थों की भी आवश्यकता रहती है और व्यक्तियों की भी आवश्यकता होती है। यह परस्परावलम्बन है। सेवा का अर्थ भी यही है कि आदमी ठीक तरह से एक-दूसरे के काम आ सके। हर व्यक्ति में हर तरह की क्षमता नहीं होती। सबमें अलग-अलग क्षमता होती है। अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार दूसरों को सहयोग देना जीवन की एक सार्थकता होती है।

सेवा के दो प्रकार हो सकते हैं—पारमार्थिक सेवा और व्यावहारिक/लौकिक सेवा। पारमार्थिक सेवा के अंतर्गत संत लोग जनता को अर्हत् वाणी सुनाते हैं, ज्ञानदान देते हैं। उन्हें संबोध प्रदान करने का प्रयास करते हैं। उनकी बुराइयों को छुड़ाने का, आपसी वैमनस्य को दूर करने का और समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं।

सांसारिक संबंधों में व्यावहारिक या लौकिक सेवा का भी महत्त्व है। एक असहाय व्यक्ति की कोई सहायता करे तो लौकिक सेवा हो जाती है। इस सेवा के द्वारा समाज में आपसी संबंध अच्छे बनते हैं और लोगों को समस्याओं का समाधान भी मिलता है। आदमी यह चिन्तन करे कि अभी मेरा शरीर स्वस्थ है, मैं सक्षम हूं, इसलिए मेरी स्वस्थता और सक्षमता औरों की सेवा में सहयोगी बने। एक आदमी सेवा भी करे और उसे बार-बार जताए कि देखो, मैंने तुम्हारा अमुक काम किया, यह किया, वह किया। यह गिनाने की प्रवृत्ति सेवा के महत्त्व को और उसके फल को भी कम कर देती है। सेवा निष्काम भाव से की जाए। सेवा देकर वापस कुछ प्राप्त करने की भावना न रहे। निष्काम भाव से सेवा देने की भावना एक उच्च कोटि की भावना होती है। सेवादायी व्यक्ति सेवाग्राही व्यक्ति के शरीर को अपने शरीर के समान समझे, अपितु अपने से भी ज्यादा उसका ध्यान रखे। जहां इतनी आत्मीयता होती है, वहां सेवा अच्छी हो सकती है। शरीरिक सेवा के साथ-साथ मानसिक समाधि का भी बहुत मूल्य है।

किसी आदमी का मन असमाहित हो, उस समय उसकी व्यथा-कथा सुन ली जाए तो मानसिक असमाधि से ग्रस्त व्यक्ति को बड़ा संबल मिल सकता है। गुरुदेव तुलसी के समय कुछ प्रसंगों में मैंने देखा कि वे किस प्रकार असमाधिस्थ व्यक्ति को समाधिस्थ बना देते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'पंचसूत्रम्' में सुन्दर कहा है—

महान्तो ज्ञानिनः सन्ति, महान्तो ध्यानिनस्तथा।
तेभ्योऽपि सुमहान्तश्च, सन्ति सेवापरायणाः।।

ज्ञानी व्यक्ति भी महान् होते हैं और ध्यानी व्यक्ति भी महान् होते हैं। किन्तु सेवापरायण व्यक्ति उन सबसे महान् होते हैं। आदमी में ज्ञान ज्यादा न भी हो, अगर सेवा की भावना ज्यादा है और सहज स्नेह की भावना है तो कम ज्ञान वाला व्यक्ति भी प्रिय बन जाता है। उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ती है और सबसे बड़ी बात है कि उसकी चेतना निर्मलता को प्राप्त हो जाती है। इतना ही नहीं, स्वयं तीर्थंकर कहते हैं कि जो मुनि अग्लान भाव से रुग्ण मुनि की सेवा करता है, वह वास्तव में मेरी ही सेवा करता है। आदमी नाम, ख्याति, प्रतिष्ठा और प्रतिफल की आकांक्षा से सेवा न करे। इस परिप्रेक्ष्य में मां को याद करना चाहिए। एक बच्चा, जो शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अविकसित होता है, फिर भी मां अपने ममत्वभाव अथवा दायित्वभाव से बच्चे की सेवा करती है। उन बच्चों से भविष्य में पुनः कुछ पाने की आशा नहीं होती। इसके बावजूद भी माताएं मानो अपना मातृत्व धर्म निभाते हुए उन बच्चों की सेवा करती रहती हैं। यह एक उदाहरण है कि किस प्रकार निष्काम भाव से और प्रतिफल की आशा के बिना की सेवा की जा सकती है। इस सांसारिक सेवा का भी महत्त्व है तो पारमार्थिक सेवा तो अपने-आपमें बहुत बड़ी बात होती है। सेवा तो शाश्वत धर्म है। सेवा करने से भेद का त्याग होता है। सेवा में अपना समर्पण होता है।

सेवाधर्म परम गहन तत्त्व है। इसलिए परमार्थ की भावना से, परार्थ की भावना से सेवा की जाए तो कर्म-निर्जरा होगी और सामने वाले व्यक्ति को भी समाधि मिलेगी। सेवा से परस्पर संबंध सुदृढ़ बनते हैं, आश्वासन मिलता है और स्वयं की चेतना भी निर्मल बनती है।

३६

उत्कृष्ट मंगल

जैन वाङ्मय का एक सुन्दर सूक्त है—**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं**—धर्म उत्कृष्ट मंगल है। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि धर्म को उत्कृष्ट मंगल क्यों कहा गया है? इसका समाधान मुझे यह लग रहा है कि दुनिया में अनेक प्रकार के मंगल हैं। स्वस्तिक, शंखध्वनि, पूर्णकलश आदि को मंगल माना गया है। इनको कार्यसिद्धि, धनप्राप्ति आदि का निमित्तभूत माना जाता है। ये लौकिक मंगल हैं, द्रव्य-मंगल हैं। धर्म भाव-मंगल है। इससे आत्मा निर्मल होती है, इसलिए धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

धर्म क्या है? धर्म शब्द के भी अनेक अर्थ हैं, किन्तु यहां धर्म से तात्पर्य है, वह साधना अथवा तत्त्व, जिससे आत्मा की शुद्धि हो—**आत्मशुद्धिः साधनं धर्मः**—आत्मशुद्धि का साधन धर्म है और वह मंगल है। फिर प्रश्न हुआ कि धर्म कौनसा है? सुन्दर समाधान दिया गया—**अहिंसा संजमो तवो**—अहिंसा, संयम और तप धर्म हैं। इन तीन प्रकार के धर्मों में मानो सब-कुछ समाविष्ट हो गया। अहिंसा की दृष्टि से अनेक बातें हैं। एक बात मुझे 'समणसुत्तं' में प्राप्त हुई—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एतियगं जिणसासणं।।

जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही तुम दूसरों के लिए चाहो। जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, वह तुम दूसरों के लिए मत चाहो—यह जिनशासन का निर्देश है। भगवान ने जो निर्देश दिए, सन्देश दिए, वे आदमी के जीवन में उतरें। कहा गया है—

वीतराग! सपर्यातः तवाज्ञा पालनं वरम्।
आज्ञा राद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च।।

वीतराग प्रभो! आपकी पूजा की अपेक्षा आज्ञा का पालन करना ज्यादा अच्छा है। आज्ञा की आराधना मोक्ष के लिए होती है और आज्ञा की विराधना संसार-परिभ्रमण के लिए होती है।

एक सेठ कपड़े का व्यापारी था। दिल्ली और मुंबई जैसे महानगरों में उसका व्यापार चलता था। वह स्वयं प्रायः राजस्थान में रहता था। उसने दिल्ली और मुंबई में अपने मुनीमों को सन्देश भेजा कि अभी कपड़ा महंगा होने वाला है, इसलिए अधिक मात्रा में कपड़ा खरीद कर रख लो। कुछ समय पश्चात् सेठ दिल्ली गया और मुनीमजी से बातचीत की। मुनीमजी ने काफी मात्रा में कपड़ा खरीद कर रखा था। तत्पश्चात् सेठजी मुंबई पहुंचे। वहां मुनीमजी से कपड़े के बारे में पूछा। मुनीमजी—'कपड़ा तो नहीं खरीदा।' सेठजी—'क्या तुम्हें पत्र नहीं मिला था?' मुनीमजी—'पत्र तो मिला था। मैंने उसको पट्ट पर सम्मान के साथ स्थापित कर रखा है। मैं हमेशा उसकी पूजा करता हूं।' सेठजी—'पत्र की पूजा करने से क्या होगा?' पत्र की पूजा करने की अपेक्षा निर्देश का पालन किया जाना चाहिए था। सेठजी ने उस मुनीम की छुट्टी कर दी। इसी प्रकार वीतराग प्रभु की पूजा की अपेक्षा आज्ञा का पालन महत्त्वपूर्ण होता है। अहिंसा-धर्म आदमी के जीवन में आए। अहिंसा परम धर्म है। ऋजुता, मृदुता, मैत्री और तुष्टि अहिंसा धर्म की विभूतियां हैं।

धर्म का दूसरा प्रकार है—संयम। इन्द्रियों का संयम, मन का संयम, वचन का संयम और काया का संयम। यह संयम की साधना यदि जीवन में आ जाए तो व्यक्ति बहुत विकास कर सकता है। वह वीतरागता के पथ पर अग्रसर हो सकता है। यदि जीवन में संयम है तो अहिंसा की साधना भी आसान हो जाती है। संयमरहित जीवन में अहिंसा की आराधना भी मुश्किल होती है।

धर्म का तीसरा प्रकार है—तपस्या। जैनधर्म में बारह प्रकार की तपस्या निर्दिष्ट है—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचारी आदि। इन तपों की आराधना की जाए तो जीवन में धर्म आ सकता है। 'शिक्षा सुधा' में कहा गया है—

जगति तपसो मूल्यं, तपसा कर्मनिर्जरा।
तपस्वी सुखमाप्नोति, सहजमात्मिकं परम्।।

जगत में तप का मूल्य है। तप से कर्म-निर्जरा होती है। तपस्वी सहज आत्मिक और श्रेष्ठ सुख को प्राप्त करता है।

तप-आराधना वर्या, बहुलोकैर्विधीयते।
निःस्पृहत्वं सदा रक्ष्यं, तपस्विभिर्नरैर्वरैः।।

तप की आराधना श्रेष्ठ है। बहुत लोग तपस्या करते हैं, पर श्रेष्ठ तपस्वी व्यक्तियों को तपस्या में सदा निःस्पृहता रखनी चाहिए। जिस व्यक्ति के जीवन में ये तीनों प्रकार के धर्म होते हैं, उसका मन धर्म में रमा रहता है और वह देवों के लिए भी पूज्य बन जाता है। राजा ही नहीं, देव और इन्द्र भी उसे प्रणाम करते हैं। हालांकि देवता प्रणाम करें, यह आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए। कुछ लोग देवों के पीछे चलते हैं और कुछ सम्यक्दृष्टि या धार्मिक देवता उन आत्माओं को प्रणाम करते हैं जो धर्ममयी होती हैं। देवता आए या न आए, कोई खास बात नहीं है। उत्तम बात यह है कि आदमी आत्मशुद्धि के लिए संयम की साधना करे। धर्म आदमी का अपना बन जाए। धर्म और आदमी की आत्मा एक हो जाए, यह कल्याण का परम मार्ग है।

३७

विष क्या ? अमृत क्या ?

आदमी के मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि विष क्या है और अमृत क्या है ? विष और अमृत बहुत प्रसिद्ध शब्द हैं। विष से आदमी डरता है और उससे दूर रहना भी चाहता है। अमृत सबको प्रिय लगता है। इसका आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में बहुत सटीक समाधान प्रस्तुत किया है—**'कोहो विसं किं अमयं अहिंसा'**—क्रोध एक प्रकार का विष है, जो मैत्रीपूर्ण संबंधों को समाप्त कर देता है और स्वास्थ्य पर भी असर ला सकता है। और तो क्या, व्यक्ति को भी समाप्त कर सकता है। मैंने बचपन में एक प्रसंग सुना था कि आक्रोश किस प्रकार विष पैदा करता है। एक छोटा बच्चा जो बिलकुल स्वस्थ था, अचानक उसकी मृत्यु हो गई। अनुसंधान के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया कि जिस समय बच्चा मां का स्तनपान कर रहा था, उस समय मां तीव्र आक्रोश में थी। जिसके कारण मां का दूध विषाक्त हो गया। उस आक्रोश की स्थिति में बच्चे ने दुग्धपान किया और अल्प समय में ही उसकी मृत्यु हो गई। यह घटना कितनी यथार्थ है, मैं नहीं जानता। किन्तु एक निष्कर्ष अवश्य है कि आवेश अथवा आक्रोश एक ऐसा विष है जो आदमी को शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर अस्वस्थ बना देता है। ऐसी स्थिति में यदि अहिंसा का प्रयोग होता है, प्रेम व मैत्री का प्रयोग होता है तो वह अमृत का काम करती है। दुनिया में अहिंसा है तभी लोग जीवित हैं। यदि अहिंसा न हो तो लोगों का जीवित रहना भी मुश्किल हो सकता है। जहां हिंसा, आक्रोश और द्वेष की अग्नि प्रज्वलित होती है, वहां स्थितियां भी कष्टदायक बन जाती हैं और

शान्ति भी समाप्त हो जाती है। सन् २००२ में जब गुजरात में गोधरा-काण्ड हुआ, आचार्यश्री महाप्रज्ञ उन दिनों गुजरात की यात्रा कर रहे थे। उस समय एक भयंकर स्थिति बन गई थी। गोधरा-काण्ड के बाद जो प्रतिशोध की भावना उभरी और लोगों में जो आवेश व आक्रोश का भाव उभरा, उसने कितना अप्रिय नजारा दिखाया? कितने-कितने लोग मर गए और कितने-कितने लोग दहशत में चले गए? क्या वह कोई कम विष था? उस हिंसा के बाद जो अहिंसा का वातावरण बना, उससे शान्ति व्याप्त हो गई और वह विष अमृत में बदलने लगा।

दूसरा प्रश्न किया गया कि दुनिया में शत्रु कौन है और मित्र कौन है? समाधान की भाषा में कहा गया—**'माणो अरी किं हियमप्पमाओ'** अहंकार शत्रु है और अप्रमाद मित्र है। दूसरे शत्रु नुकसान करें या न करें, किन्तु आदमी में अहंकार है तो वह अपना नुकसान कर लेता है। अहंकार एक ऐसा भावात्मक दोष है जो आदमी को ऊपर उठने से बाधित कर देता है। आदमी की यह दुर्बलता है कि वह थोड़ा-कुछ पाकर ही अहंकार में आ जाता है। थोड़ा ज्ञान मिल जाए, थोड़ा धन मिल जाए और सत्ता हाथ में आ जाए फिर तो कहना ही क्या? राजस्थानी साहित्य में ठीक कहा गया—भरिया तो छलकै नहीं, छलकै सो आधा।

एक घड़े में यदि पानी पूरा भरा हुआ है तो वह छलकता नहीं है। जिसके पास थोड़ा है, अल्प है, उसे ही अहंकार सताता है। जिसके पास सब-कुछ है, उसके पास अहंकार नहीं ठहरता। जब आदमी को यथार्थ का भान हो जाता है तब उसके अहंकार का मद उसी प्रकार उतर जाता है जैसे कुनैन की टैबलेट लेने से मलेरिया बुखार उतर जाता है। इस प्रकार अहंकार एक शत्रु है और शत्रु भी इसलिए कि वह विकास में बाधा पहुंचाता है। अप्रमाद मित्र इसलिए है कि वह आदमी को विकास के पथ पर अग्रसर करता है।

तीसरा प्रश्न किया गया कि दुनिया में भय का स्थान कौनसा है और शरण का स्थान कौनसा है? इसका सुन्दर समाधान दिया गया—**'माया भयं किं सरणं तु सच्चं'**—माया भय है और सत्य शरण है। जो आदमी छलना, वंचना करता है, वह भयभीत रहता है। मायावी आदमी अपनी एक बात को छुपाने के लिए नया झूठ बोलता है, माया का नया जाल गूंथता है और सोचता है कि कहीं मेरी बात प्रकाशित न हो जाए। इस प्रकार माया में भय का वातावरण बना रहता है। जहां सचाई है, स्पष्टता है, वहां निर्भीकता रहती है। सत्यवादी

आदमी के जीवन में परेशानियां तो आ सकती हैं, संघर्ष आ सकते हैं, किन्तु उसके पास इतना मनोबल होता है, आत्मबल होता है कि वह परास्त नहीं होता। सत्य की शरण में रहने वाला व्यक्ति पूर्णतया सुरक्षित रह सकता है। इसलिए ठीक कहा गया कि माया भय का स्थान है और सत्य शरण का स्थान है।

चौथा प्रश्न युगल हुआ कि दुनिया में दुःख क्या है और सुख क्या है? उत्तर मिला—**'लोहो दुहं किं सुहमाहु तुट्ठी'**—लोभ दुःख है और सन्तोष सुख है। जहां अतिकामना है, लालसा है, वहां जब कामनाएं पूरी नहीं होतीं तो दुःख पैदा हो जाता है। कामना के भी तीन स्तर हो सकते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्तम। जघन्य स्तर की कामना वह होती है जिसमें आदमी यह भावना करता है कि अमुक व्यक्ति का बुरा हो जाए, अमुक व्यक्ति का व्यापार चौपट हो जाए, अमुक परिवार में सब बीमार हो जाएं, अस्त-व्यस्त हो जाएं आदि। मध्यम स्तर की कामना में आदमी भौतिक आकांक्षा करता है। वह सोचता है, तुझे धन मिल जाए, सन्तान मिल जाए, कोई पद मिल जाए। मध्यम स्तर की कामना में व्यक्ति दूसरों का अनिष्ट नहीं चाहता, किन्तु अपने लिए, अपने परिवार के लिए भौतिक पदार्थों की इच्छा करता है। उत्तम स्तर की कामना वह होती है जिसमें व्यक्ति आत्मिक विकास चाहता है। वह भावना करता है कि मेरे में मैत्री का विकास हो, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना का विकास हो। आदमी कामना भी करे तो उत्तम स्तर की करे। वास्तव में तो जब कामनाएं समाप्त हो जाती हैं, आदमी को परम सुख प्राप्त होता है।

जिस व्यक्ति के जीवन में अहिंसा, अप्रमाद, सत्य और सन्तोष आ गया अथवा इनके आधार पर जो अपनी जीवनशैली का निर्माण करता है, उसका वर्तमान जीवन तो अच्छा बनता ही है, भावी जन्म भी अच्छा बनने की संभावना की जा सकती है।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारण कर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवन शैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

–: प्राप्ति स्थान :–

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

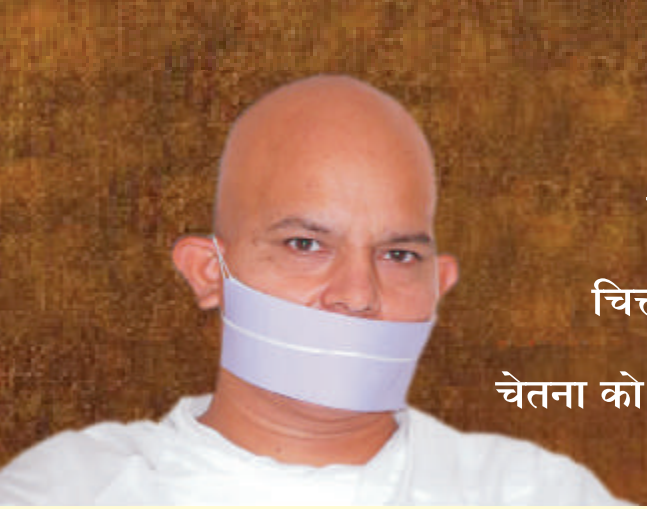

जिनका चिन्तन
चित्त को प्रसन्नता और
चेतना को पवित्रता प्रदान करता है।

भीतर पढ़ें

- भाग्य का निर्माता : पुरूषार्थ
- कल नहीं आज
- जीवन का आनन्द
- समय का मूल्यांकन
- शक्ति का नियोजन
- मित्र कौन ?
- प्रमाद मत करो
- स्वयं को उपयोगी बनाओ
- प्रशस्त जीवनशैली के आयाम
- छोटे से भी सावधान रहो .....

9 788171 951291
₹50